चिन्तन के क्षितिज पर

मुनि बुद्धमल्ल

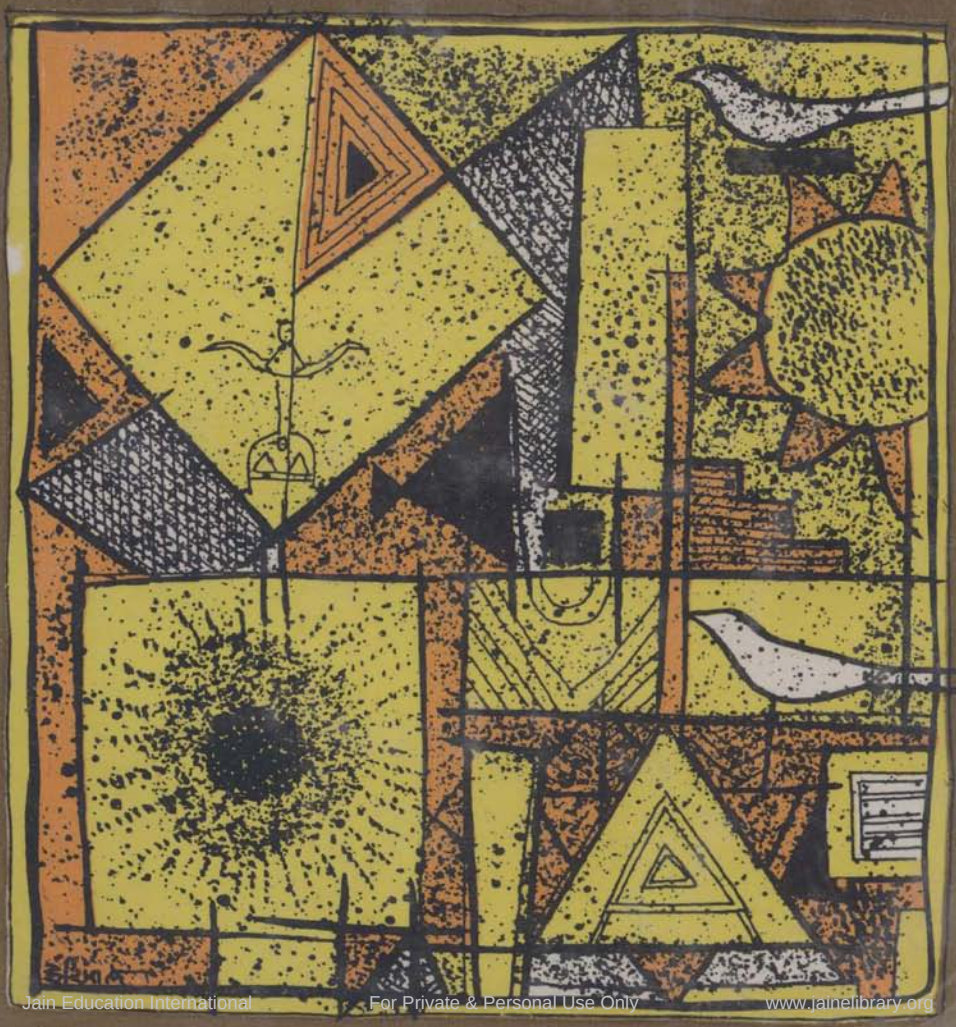

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। जागृत अवस्था में तो वह चिन्तन करता ही है, स्वप्नावस्था में भी करता है। बुद्धि उसके चिन्तन को सौष्ठव प्रदान करती है, विवेक गहराई, स्मृति स्थायित्व तो कल्पना नव-नव उन्मेष। इन सभी विशेषताओं से संपन्न मनुष्य जब चिन्तन के क्षेत्र को अपने आसपास तक ही सीमित रखता है तब वह अपने एवं अपने से संबंधित व्यक्तियों की समस्याओं तक ही सीमित रहता है, परन्तु जब उसके चिन्तन का क्षेत्र क्षितिज की दूरियों तक विस्तार पाता है तो उसके लिए हर विषय बहु-आयामी होकर बहुत-बहुत विस्तीर्ण हो जाता है। उस स्थिति में उसके लिए बाह्य समस्याओं के समाधान की खोज गौण तथा आभ्यंतर की मुख्य हो जाती है। अध्यात्म, धर्म, संस्कृति और समाजगत समस्याओं के समाधान चिन्तन के इसी बिन्दु पर अन्विष्य होते हैं। प्रस्तुत पुस्तक का नाम उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में रखा गया है—चिन्तन के क्षितिज पर। जिज्ञासुजन चिन्तन के क्षितिज पर उतर आने वाली समस्याओं का समाधान प्राप्त करेंगे, ऐसा विश्वास है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन के क्षितिज पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन के क्षितिज पर

मुनि बुद्धमल्ल
निकाय-प्रमुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

© आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)

चि० सुरेन्द्र (आत्मज श्री शुभकरणजी सुराणा, बम्बई) सौ० सोनल (आत्मजा श्री निर्मलचन्दजी सेठिया, जयपुर) के शुभ विवाहोपलक्ष्य में श्री शुभकरणजी मीनादेवी सुराणा के सौजन्य से प्रकाशित।

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान) / मूल्य : पचीस रुपये / प्रथम संस्करण, १९९२ / मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

CHINTAN KE KSHITIJ PAR
by Muni Bubdhamalla Rs. 25.00

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राथमिकी

मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। जागृत अवस्था में तो वह चिन्तन करता ही है, स्वप्नावस्था में भी करता है। बुद्धि उसके चिन्तन को सौष्ठव प्रदान करती है, विवेक गहराई, स्मृति स्थायित्व तो कल्पना नव-नव उन्मेष। इन सभी विशेषताओं से संपन्न मनुष्य जब चिन्तन के क्षेत्र को अपने आसपास तक ही सीमित रखता है तब वह अपने एवं अपने से संबंधित व्यक्तियों की समस्याओं तक ही सीमित रहता है, परन्तु जब उसके चिन्तन का क्षेत्र क्षितिज की दूरियों तक विस्तार पाता है तो उसके लिए हर विषय बहु-आयामी होकर बहुत-बहुत विस्तीर्ण हो जाता है। उस स्थिति में उसके लिए बाह्य समस्याओं के समाधान की खोज गौण तथा आभ्यंतर की मुख्य हो जाती है। अध्यात्म, धर्म, संस्कृति और समाजगत समस्याओं के समाधान चिन्तन के इसी बिन्दु पर अन्विष्य होते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का नाम उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में रखा गया है—**चिन्तन के क्षितिज पर**। इसमें मेरे उन लेखों का संकलन है, जो सामयिक आवश्यकताओं पर लिखे गए तथा दैनिक एवं मासिक आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इन्हें विभागीकरण के द्वारा व्यवस्थित एवं सम्पादित करने का कार्य मुनि धनंजयकुमारजी ने किया है। एतदर्थ उनके प्रति प्रमोद भावना व्यक्त करता हूं। यदि वे इस ओर प्रवृत्त नहीं होते तो संभव है, लंबे समय तक इन्हें पुस्तकाकार ग्रहण करने का अवसर उपलब्ध नहीं हो पाता।

विभिन्न सुगंधों एवं वर्णों के पुष्पों का अपना एक महत्त्व तथा उपयोग है फिर भी जब वे माला के रूप में गुंफित हो जाते हैं तब एकात्मकता के आधार पर उनका महत्त्व तथा उपयोग अधिकतर हो जाता है। मेरे इन प्रकीर्ण लेखों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। जिज्ञासु जन इस उपक्रम से अवश्य ही लाभान्वित होंगे तथा चिन्तन के क्षितिज पर उतर आने वाली समस्याओं का समाधान प्राप्त करेंगे, ऐसी आशा करता हूं।

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)
२२ फरवरी १९९२

मुनि बुद्धमल्ल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रम

विचार

निर्माण के निखरते दायित्व	३
बौद्धिक वर्ग : सामाजिक दायित्व	८
सामाजिक न्याय का विकास	१२
विकास के पथ पर	१८
चरित्र-विकास	२३
जीवन के तीन सूत्र	२९
मनुष्य और उसकी डगमगाती निष्ठा	३३
प्रगति के सोपान	३७
सामर्थ्य और उसका विश्वास	४०
प्राण : एक व्यावहारिक विश्लेषण	४३
मानसिक शान्ति और धारणाओं का रंग	४८
अपना दर्शन, अपने द्वारा	५१
अनुशासन : एक समस्या	५३
दिशा-बोध	५९

दर्शन

वस्तु, अनुभूति और अभिव्यक्ति	६३
स्याद्वाद क्या है ?	७१
समन्वय की ओर	७७
अहिंसा : एक अनुचिंतन	८२
आज के परिप्रेक्ष्य में 'अहिंसा'	८५
मरण-प्रविभक्ति	८८
पुद्गल : एक विवेचन	९४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन : अनुचिन्तन

अक्षय तृतीया : एक महान् तपःपर्व	१०१
संवत्सरी महापर्व और अधिमास	१०८
एकता और अनुशासन का प्रतीक : तेरापंथ	११३
युग-परिप्रेक्ष्य में मर्यादा-महोत्सव	११६
मर्यादा-महोत्सव : सांस्कृतिक पर्व	११९
अणुव्रत आन्दोलन : एक परिचय	१२३
अणुव्रत के सन्दर्भ में व्यक्ति और समाज	१२७
अणुव्रत आन्दोलन और नारी-समाज	१३०
समाज के निर्माण में महिलाओं की भूमिका	१३३
युग की आवश्यकता : स्याद्वाद	१३५
सदाचार से जुड़े प्रश्न	१३७

व्यक्ति

आत्म-जागरण के उपदेष्टा महावीर	१४७
अहिंसावतार भगवान् महावीर	१५१
अहिंसक क्रान्ति के पुरोधा भगवान् महावीर	१५४
दर्पण एक : हजारों चेहरे	१५९
द्रष्टा ऋषि : आचार्यश्री तुलसी	१६४
आचार्यश्री तुलसी : कुशल अध्यापक	१६७
उस समय के मुनि नथमल : आज के युवाचार्य महाप्रज्ञ	१७४
शक्तिस्वरूपा जैन साध्वियां	१८२
जयपुर के प्रमुख तेरापंथी श्रावक	१९२
निष्ठाशील श्रावक श्री बिहारीलाल जैन	२०६
अणुव्रती 'अमन'	२१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्माण के निखरते दायित्व

विवेक के मार्गदर्शन में

मनुष्य इस धरती का अनुपम प्राणी है। अनन्तानन्त प्राणियों में उस जैसा दूसरा कोई नहीं। सभी प्राणी जीते हैं, मनुष्य भी जीता है, परन्तु उसका जीना एक पृथक् अर्थ रखता है। श्वासोच्छ्वास के ग्रहण-विमोचन को ही जीवन कहा जाए तो इस सीमा तक मनुष्य भी सब प्राणियों के साथ है परन्तु मनुष्य का जीवन इतना मात्र ही नहीं है। अपने जीवन को उच्चस्थिति प्रदान करने के लिए मनुष्य के पास बहुत कुछ करणीय होता है। यदि मनुष्य सजग है तो अवश्य ही उसका जीवन कर्त्तव्य-बोध के द्वारा ही संचालित होता है। उसका विवेक आगे से आगे उसका मार्गदर्शन करता रहता है और वह क्रमशः उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता जाता है।

चले सो पाये

विवेक मनुष्य को अन्य प्राणियों से भिन्नता प्रदान करता है। सभी प्राणी भोजन, विश्राम, सुरक्षा और सुख की आकांक्षा से परिचालित होते हैं, परन्तु अकेला मनुष्य ही है, जो इन सबसे आगे भी सोचता है, वैसा करने तथा बनने का मार्ग भी वह देर-सवेर खोज लेता है। और फिर एक समय ऐसा भी आता है जब वह वैसा बन भी जाता है। यद्यपि निर्णीत आदर्श के रूप में स्वयं को ढाल लेना कोई सीधा या सरल कार्य नहीं है। बहुत टेढ़ी खीर है, फिर भी कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो मार्गगत कठिनाइयों से नहीं घबराते। वे उद्दिष्ट तक पहुंचने के लिए चल पड़ते हैं। जो चलते हैं, वे पा भी लेते हैं। एक गीत में कहा गया है—

जो चलता है वह पाता है, बैठे उसको यम खाता है।
यहां प्रगति के लिए रहा है, चलने का व्रत मूल॥

उद्देश्य प्राप्ति के लिए चलने वालों में अनेक ऐसे हो सकते हैं, जो मार्ग से भटक जाते हैं, श्रान्त और क्लान्त होकर रुक जाते हैं या फिर अधैर्यवश निराश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर लौट आते हैं, फिर भी सहस्रों-सहस्रों में कोई एक तो सफलता पाता ही है। सफलता पाने वाले की पहले से कोई पृथक् पहचान नहीं होती, वह कोई भी हो सकता है। एक की सफलता सबकी सफलता के द्वार खोल देती है। उससे विश्वास जागता है कि वह सफल हुआ है तो मैं भी हो सकता हूं।

अपने हाथ, जगन्नाथ

जीवन के कार्यक्षेत्र में प्राप्त की गई सफलता ही व्यक्ति के भविष्य का निर्माण करती है। दूसरे शब्दों में इसे ही भाग्य का निर्माण भी कहते हैं। अपने भविष्य का निर्माण व्यक्ति को स्वयं ही करना होता है। दूसरा जो कुछ प्राप्त करता है वह उसी की उपलब्धि होती है, अन्य किसी की नहीं, इसी तरह दूसरे की सफलता भी उसी की होती है, अन्य का उसमें कोई श्रेय नहीं होता। इसीलिए यहां जो कुछ भी पाना है, वह स्वयं अपने ही हाथों से पाना है। 'अपने हाथ, जगन्नाथ' की कहावत इसी ओर संकेत करती है। **अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः**— 'ये मेरे हाथ ही भगवान हैं, इतना ही नहीं, ये भगवान से भी बढ़कर हैं।'

उक्त कथन में किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होकर वास्तविकता का ही दिग्दर्शन कराया गया है। मनुष्य को जो कुछ भी बनना है, वह स्वयं अपने द्वारा ही बनना है। इस क्षेत्र में अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। 'अपने द्वारा अपना निर्माण' यह शाश्वत सत्य है।

तीनों कालों में

काल के तीन भेद किये जाते हैं—वर्तमान, भूत और भविष्य। इनमें केवल वर्तमान ही ऐसा है, जो विद्यमान होता है। शेष दो तो सदैव अनुपस्थित ही रहते हैं। इनमें एक भूतकाल है, जो बीत चुका होता है। दूसरा भविष्यकाल है, जो अभी तक अजन्मा ही है। ये दोनों उन अतिथियों के समान हैं, जिनमें से एक जा चुका है तो दूसरा आया ही नहीं है। फिर भी मनुष्य तीनों से संबंध रखने के प्रयास में लगा रहता है। वर्तमान को तो वह प्रतिक्षण भोग रहा होता है, परन्तु शेष दोनों के भोग से भी चूकता नहीं।

समय के जिस मार्ग पर से अतीत में वह गुजरा है, वह मार्ग तो समाप्त हो चुका है, दुबारा कभी उस पर से नहीं गुजरा जा सकता, परन्तु उस काल में अर्जित संस्कार और अनुभव व्यक्ति की चेतना में संगृहीत रह जाते हैं। वह समय समाप्त हो जाता है, पर वह चेतना सदा कायम रहती है। उसमें संचित संस्कार और अनुभव भी लम्बे समय तक स्मृतिकोश में सुरक्षित रहते हैं। अपनी स्मृति के बल पर जब मनुष्य जुगाली करने बैठता है तो मानो वह अविद्यमान अतीत में गुजर रहा होता है। प्रत्यक्ष भक्त घटना को स्मृति के पर्दे पर बार-बार भोगता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्भर है वर्तमान पर

भविष्य काल में मनुष्य का प्रवेश होता है कल्पना के द्वारा। वह अपने असन्तोषों तथा असफलताओं के घाव भविष्य में नहीं ले जाना चाहता, अतः उन सबसे मुक्त भविष्य की कल्पना करता है। अतीत के अनुभवों से वह उन कल्पनागत सफलताओं को सजाता है। जब उन वायवी कल्पनाओं को मूर्त रूप देकर ठोस धरातल पर उतारने का समय उपस्थित होता है तभी व्यक्ति को वास्तविकता से आमने-सामने होना पड़ता है। उस समय उसका पुरुषार्थ जितना साथ देता है उतनी ही सफलता की सम्भावना रहती है। शेष सभी कल्पना-जगत् के महल ढह पड़ने को विवश होते हैं।

अतीत का अर्थ ही यह है कि जो बीत चुका है, मर चुका है। उसके विषय में की गयी कोई चिन्ता कारगर नहीं हो सकती। भविष्य के विषय में अवश्य कुछ सोचना आवश्यक होता है। वह उस गर्भस्थ भ्रूण की तरह है, जो कालान्तर में शिशु बनकर हमारे बीच उपस्थित होने वाला होता है। परन्तु उसके लिए जो भी योजना बनती है, जो भी करणीय निर्धारित होता है, वह सब वर्तमान से ही संबद्ध होता है। इसलिए अन्ततः सारा दारमदार वर्तमान पर निर्भर करता है।

वर्तमान जिसके हाथ में होता है, भविष्य भी उसी के हाथ में होता है। वर्तमान सुधरता है तभी भविष्य सुधरता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि भविष्य को वर्तमान बनना ही पड़ता है। अतीत का कल अब कभी 'आज' नहीं बन पाता, परन्तु भविष्य के कल को तो 'आज' बनना ही होता है। इसीलिए आज को सुधारना एवं सफल बनाना ही भविष्य को सुधारना और सफल बनाना है। यहां काल के आधार पर सुधार की जो बात कही जा रही है, वह उपचार मात्र ही है। वास्तव में तो व्यक्ति को ही सुधरना होता है। व्यक्ति सुधरता है तभी उसका वर्तमान और भविष्य भी सुधरता है। सुधार से तात्पर्य है—व्यक्ति के गुणों का उत्तरोत्तर विकास।

सफलता के चार सूत्र

जीवन के विकास की अनन्त सम्भावनाएं हैं। सर्वोच्च आदर्श को लक्ष्य बनाकर चलना चाहिए, तभी विकास के शिखरों को छुआ जा सकता है। छोटा लक्ष्य बनाने वाले उस सीमा के दर्शन भी नहीं कर पाते। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति भी जब प्राप्ति-सीमा में आ सकती है तो उससे स्वल्प पर क्यों किसी को ठहरना चाहिए? पौंछा देने की नौकरी खोजने निकलोगे तो राज-व्यवस्था का दायित्व नहीं सम्भलाया जा सकेगा।

विकास के लिए जितना ऊंचा लक्ष्य बनाया जाता है, उसकी सफलता के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उतनी ही उच्च कोटि की तैयारी भी उपेक्षित होती है। प्रत्येक सफलता में निम्नोक्त चार सूत्र विशेष सहायक हो सकते हैं—

१. आस्था, २. आकांक्षा, ३. संकल्प और ४. पुरुषार्थ।

आस्था की धरती

सफलता की प्राप्ति के लिए जो सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व है, वह आस्था है। प्रत्येक सफलता का बीज आस्था की धरती पर ही बोया जा सकता है। अपने कर्तृत्व में आस्था नहीं हो तो व्यक्ति किसी भी कार्य को हाथ में लेने से कतराने लगता है। अपनी क्षमता पर तो विश्वास हो, परन्तु कार्य के प्रति आस्था न हो अर्थात् उस कार्य को वह करने योग्य ही नहीं मानता हो तब भी वह उसे करने के लिए उद्यत नहीं होता। कर्तृत्व और कार्य—दोनों के प्रति आस्थावान् होने पर ही मनुष्य उसके लिए प्रस्तुत हो सकता है। इसीलिए विकास के अभियान में सफलता का प्रथम पड़ाव आस्था की धरती पर ही किया जा सकता है।

उच्चतर की आकांक्षा

अधिकांश प्राणी यथास्थिति में ही जी लेते हैं। कोई भी नयी आकांक्षा उनके मानस में अंगड़ाई लेकर खड़ी नहीं हो पाती। गाय, घोड़ा, कुत्ता आदि पशु सहस्रों-सहस्रों वर्षों से प्रायः एक ही प्रकार का बंधा-बंधाया जीवन जीते हैं। उनके मन में उच्चतर बनने की कोई आकांक्षा नहीं होती, तो कोई योजना भी नहीं। फलतः कोई प्रगति भी नहीं होती। एक मात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो यथास्थिति को कभी नहीं स्वीकारता। वह उसे बदल डालने को सदैव आतुर रहता है। जो प्राप्त है वह तो उसका होता ही है, अप्राप्त को प्राप्त करने में भी उसकी उद्दाम अभिरुचि रहती है। अपने सामर्थ्य की आस्था उसमें उच्चतम बनने की आकांक्षा जगाती है। आस्था की धरती पर बोये गये सफलता के बीज आकांक्षा का जल मिलने पर ही अंकुरित हो पाते हैं। आगम कहते हैं—उच्चतम बनने के मार्ग में यदि संसार बाधक बनता है तो उसके विपरीत खड़े होने में भी मत हिचकिचाओ। **'पडिसोय मेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेण'** उच्चतम की आकांक्षा मनुष्य को सफलता के पथ पर आगे बढ़ाती है।

पाने या खपाने का निर्णय

सफलता के लिए तीसरा सूत्र है—संकल्प। आकांक्षा एक चाह है। संकल्प है उसे पाने के लिए स्वयं को खपा देने की तैयारी। सम्यक् दिशा में लगा संकल्प ही मनुष्य को **'कार्यं वा साधयेयं, देहं वा पातयेयं'** जैसा दृढ़ निश्चय प्रदान करता है। शिथिलता विहीन संकल्प सफलता के फलीभूत होने में आधार-भूमि बनता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषार्थ नहीं हारता

आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर कहते हैं—"**पुरिसा परमचक्खू ! विपरिक्कमा**" चक्षुष्मान् पुरुष, तुम पराक्रम करो। कार्य की सफलता को पूर्णता प्रदान करने वाला पुरुषार्थ ही होता है। पूर्णमात्रा तथा सम्यक् दिशा में लगे पुरुषार्थ के सम्मुख कभी असफलता टिक नहीं पाती। यदि कहीं असफलता मिलती है तो समझना चाहिए कि पुरुषार्थ की मात्रा बढ़ाने की अपेक्षा है। पुरुषार्थ कभी नहीं हारता। विरोधी परिस्थितियों पर प्रहार कर विजय पाने वाला होता है।

सफलता के उक्त चारों सूत्र उत्तरोत्तर विकास में साधक बनते हैं। इन्हीं से मनुष्य का भविष्य-निर्माण होता है। इन चारों में कोई भी दैवीय तत्त्व नहीं है। सब के सब मनुष्य द्वारा ही अनुष्ठानीय हैं। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना भविष्य स्वयं उसी के हाथ में है। वह स्वयं उसे बना भी सकता है, बिगाड़ भी सकता है। बिगाड़ने की बात तो कोई अज्ञानी ही सोच सकता है। सुज्ञानी तो भविष्य को बनाने या सुधारने में ही अपनी शक्ति का नियोजन करता है। निर्माण ही मनुष्य की महत्ता का द्योतक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्धिक वर्ग : सामाजिक दायित्व

आज संसार में क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की अनेक ज्वलंत समस्याएं हैं जो कि चिन्तन की अपेक्षा रखती हैं। बुद्धिजीवी वर्ग उन समस्याओं का समाधान निकाल लेने के लिए पूर्णतः समर्थ है।

बुद्धिजीवियों का कर्तव्य

भारत एक विशाल और प्राचीन देश है। उसकी आन्तरिक एवं बाह्य अनेक समस्याएं हैं। बुद्धिजीवियों का कर्तव्य है कि उन समस्याओं को समाहित करने के लिए उपाय खोजें। यद्यपि बुद्धिजीवी समस्याओं को सुलझाने में योग्य होते हैं, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक बुद्धिजीवी समस्याओं का निराकरण करके समाज का मार्गदर्शक बन सकता है या उसे सही रास्ते पर लगा सकता है। एक सर्वेक्षण का निष्कर्ष है कि सौ में से केवल पांच ही व्यक्ति मार्गदर्शक बनने या नेतृत्व करने का सामर्थ्य रखते हैं। शेष सारे उनके पीछे-पीछे चलने वाले होते हैं। यही बात विद्रोह एवं क्रान्ति करने वालों पर भी लागू होती है। मेरी यह बात भी आपको विचित्र लगेगी कि जो व्यक्ति जितना तेज सुधार कर सकते हैं, विपरीत होने पर वे उतना ही तेज बिगाड़ भी कर सकते हैं।

साक्षराः राक्षसाः

वस्तुतः सुधारने तथा बिगाड़ने की क्षमताएं भिन्न नहीं होतीं, केवल उसके दिशा-परिवर्तन पर ही सारा भविष्य या व्यवस्थाएं निर्भर करती हैं। पूर्व से पश्चिम की ओर मुख करने में केवल थोड़े-से घुमाव की ही आवश्यकता होती है। उसी प्रकार सुधार या बिगाड़ में लगा हुआ नेतृत्व थोड़े-से परिवर्तन में ही अपनी विपरीत दिशा में सक्रिय हो सकता है। नीतिकारों ने कहा भी है—"साक्षराः विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्" अर्थात् विद्वान् व्यक्ति विपरीत सोचने लग जाते हैं तो वे राक्षस से कम नहीं होते। अनुकूलता से सोचने पर ही वे राष्ट्र के लिए हितकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनते हैं। श्लोककार ने 'साक्षरा' शब्द का प्रयोग भी ऐसा ही किया है, जो उलटा पढ़ने पर 'राक्षसा' हो जाता है।

मस्तिष्क की संज्ञा

बुद्धिजीवी वर्ग समाज का महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक अंग होता है। उसे मस्तिष्क की संज्ञा दी जाती है। जैसे शरीर में मस्तिष्क सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही समाज में बुद्धिजीवी वर्ग है। यदि मस्तिष्क के अन्दर जरा-सी भी खराबी होती है तो सारी क्रियाएं, व्यवस्थाएं और व्यवहार गड़बड़ा जाते हैं। व्यक्ति का पूरा व्यक्तित्व ही लड़खड़ा जाता है। उसी प्रकार यदि बुद्धिजीवी वर्ग का चिन्तन सदोष होता है तो वह पूरे समाज तथा राष्ट्र की स्थिति को डावांडोल कर डालता है।

तथ्यों की गहराई में जाएं

बुद्धिजीवी सर्वगुण सम्पन्न ही होते हैं, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वे वीतराग नहीं होते। वे भी भ्रान्त हो सकते हैं। मत-पक्ष और मत-भेद का आश्रयण कर सकते हैं फिर भी वे बौद्धिक हैं अतः उनसे यह आशा की जा सकती है कि वे मूर्खों की तरह थप्पड़-मुक्के की बात नहीं करेंगे, अपितु तथ्यों की गहराई में जाकर उन पर सर्वलोमुखी चिन्तन करेंगे। अवश्य ही उनके ऐसे चिन्तन का निष्कर्ष सुन्दर होगा। ही भी गया है 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' अर्थात् पारस्परिक विचार-विमर्श से कहा तत्त्व का बोध होता है। बौद्धिक वर्ग जब किसी सामूहिक निर्णय पर पहुंचता है तब स्वभावतः ही जनता को करणीय-अकरणीय का ज्ञान हो जाता है।

सत्य के साथ सौदेबाजी न हो

बुद्धिजीवियों के सम्मुख यह आदर्श होना चाहिए कि वे सत्य के साथ कभी कोई सौदेबादी नहीं करें। सत्य के लिए जहां स्वार्थ-त्याग की आवश्यकता हो वहां उन्हें उसके लिए तैयार रहना चाहिए। व्यक्ति ज्यों ही स्वार्थोन्मुख होता है, सत्य या आदर्श का लोप हो जाता है। भारतीय लोकसभा कक्ष में एक श्लोक उद्धृत है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा,
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मः स न यो न हितावहः स्याद्,
हितं न तद् यद् छलमभ्युपेतम्॥

वह सभा वास्तविक सभा नहीं है, जिसमें वृद्ध व्यक्ति नहीं। वृद्ध से तात्पर्य अनुभव-वृद्ध एवं ज्ञान-वृद्ध से है। आगे कहा गया है—वे वृद्ध भी वास्तविक वृद्ध नहीं हैं, जो धर्म एवं कर्तव्य की बात नहीं कह सकते हों। उस धर्म को भी धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं कहा जा सकता, जो हितकारी न हो और हितकारी वही हो सकता है, जिसमें छल का प्रयोग नहीं किया गया हो। पंचतंत्र का यह श्लोक आदर्श का बोध देने वाला है।

देने की भाषा में सोचें

अनेक बुद्धिजीवी कुंठाग्रस्त होकर अपने कर्तव्य से उदासीन हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि उनकी पूछ नहीं होती, समाज उनको उस स्तर का सम्मान नहीं देता, जिसके वे अधिकारी हैं। परन्तु उनका यह सोचना निर्दोष नहीं है। उन्हें तो लेने की भाषा में न सोचकर देने की भाषा में ही सोचना चाहिए। समाज ने तो उन्हें सब कुछ दिया ही है। सुरक्षा, सहयोग, संस्कार, भाषा, परिवार, व्यवहार आदि सभी तो समाज-प्रदत्त हैं। इसलिए समाज या राष्ट्र को वे क्या दे सकते हैं, यही सोचना उनके लिए उपयुक्त है।

स्वार्थ से ऊपर

स्वार्थ की बात तो प्रायः सभी सोचते हैं परन्तु बौद्धिकों को स्वार्थ से ऊपर उठकर सोचना चाहिए। व्यक्ति अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर जब कोई कार्य करता है तो उसकी परिणति अवश्य ही मधुर फलदायक होती है। हजारों देश-भक्तों ने हजार वर्षों की गुलामी से मुक्त होने के लिए जब सम्मिलित प्रयास किया तब उसमें भी बौद्धिक व्यक्तियों ने ही मार्गदर्शन किया था। उनके स्वार्थ-त्याग और बलिदान ने समग्र देश को बलिदान के लिए कटिबद्ध कर दिया। देश की स्वतंत्रता उसी का परिणाम है। बलिदान देने वाले चले जाते हैं, पर उनका फल आगामी पीढ़ियां भोगती हैं।

बौद्धिक वर्ग का दायित्व

बौद्धिक होकर भी यदि कोई ऐसा सोचता है कि मेरे श्रम या बलिदान का लाभ मुझे ही मिलना चाहिए, दूसरों को नहीं, तो उसकी बौद्धिकता सदोष मानी जाएगी। साधारण व्यक्ति भी जानता है कि आज हमें जो प्राप्त है उसमें बहुलांश पूर्वजों के श्रम का फल है।

एक शिक्षाप्रद कहानी है। एक वृद्ध व्यक्ति अपने उद्यान में पौधे लगा रहा था। पास में खड़े दूसरे व्यक्ति ने कहा, 'तुम ८० वर्ष के हो चुके हो। ये पौधे फल देने योग्य होंगे तब तक तुम शायद ही जीवित रहोगे। तब फिर यह निरर्थक श्रम क्यों कर रहे हो?' वृद्ध ने कहा—मैं इनके फल न खा सका तो क्या हुआ? मेरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुत्र-पौत्र तो खा सकेंगे। आज जो आम मेरा परिवार खा रहा है, वे वृक्ष मेरे दादाजी ने लगाये थे।

बौद्धिक वर्ग का दायित्व है कि वह समाज एवं राष्ट्र में स्वस्थ वातावरण का निर्माण करे। उससे स्वस्थ विचारों एवं स्वस्थ कार्यों का निर्माण होगा। उसका असर भावी पीढ़ी पर भी आएगा, इसमें संदेह नहीं। तभी आने वाला समाज अधिक सुन्दर एवं सुसंस्कृत हो पाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामाजिक न्याय का विकास

मात्स्य न्याय

समाज एक समुद्र है और समुद्र के लिए एक कहावत चली आ रही है कि वहां 'मात्स्य न्यायः प्रवर्तते' अर्थात् बड़े मच्छ छोटे मच्छों को खा जाते हैं। मानव समाज के इस समुद्र में भी प्रायः यही न्याय चलता है। लगता है मानो इसी न्याय के आधार पर जीवन का सारा ढांचा खड़ा है। बहुत प्राचीन काल से यही क्रम चलता आया है कि जो शक्तिशाली, सत्तावान्, धन-कुबेर या प्रतिष्ठित होता है, वह दूसरों को खा जाता है, धूलिसात् कर देता है। कमजोर या निर्धन होना ही उसके लिए अभिशाप बन जाता है। पशु जगत् और वनस्पति जगत् में भी वे जातियां समाप्त या समाप्तप्राय हो गई हैं, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी से टक्कर नहीं ले सकीं। इसलिए यहां बलवान्, सत्तावान् और धनवान् बनना परम आवश्यक बन गया है। जीवन की सारी भाग-दौड़ इसी मान्यता पर चलती है कि दूसरे को दबाकर अपनी उन्नति का आधार प्रशस्त किया जाए।

प्रश्न है सामाजिक न्याय का

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के पश्चात् भी जो सामाजिक न्याय की बात की जाती है, उसके पीछे एक ही कारण है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। अपने विवेक और बुद्धि के बल पर उसने प्रकृति पर विजय पाई है। उसका वह क्रम आज भी तीव्र गति से चालू है। प्रकृति की अनेक घाटियां पार करते तथा उन्नति के अनेक आयाम खोल लेने के बाद भी सोचने के लिए यह प्रश्न रह ही जाता है कि सामाजिक विषमताओं एवं समस्याओं को हल करने के लिए मनुष्य ने अभी तक उतना नहीं सोचा है जितना कि उसे सोचना चाहिए। यदि ऐसा किया जाता तो सामाजिक न्याय के आधार पर प्रत्येक मनुष्य को अपेक्षाकृत अधिक उन्नत, पवित्र एवं विकसित बनाया जा सकता था। आज की यह प्रबलतम आवश्यकता है कि सामाजिक न्याय के विषय में अधिक गम्भीरता से प्रयास किए जाएं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज और सरकार

न्याय अपने क्रम से चलता है, घटनायें अपने क्रम से होती हैं। उस स्थिति में सोचना यह है कि उसमें क्या कुछ सुधार किया जा सकता है? जो भी सुधार अपेक्षित है, उसके लिए एक प्रकार का स्वस्थ वातावरण बनाया जाना चाहिए। सरकार सब कुछ कर देगी, यह सोचना गलत है। सरकार की अपेक्षा समाज का महत्त्व अधिक होता है। समाज जिस कार्य के लिए तैयार नहीं होता, सरकार उसके लिए कुछ नहीं कर सकती, परन्तु समाज जिस कार्य को चाहता हो, सरकार को वह उसके लिए बाध्य कर सकता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार कुछ भी नहीं कर सकती। समाज की अपनी सीमा है, सरकार की अपनी! दोनों एक-दूसरे की पूरक बनकर सर्वोत्कृष्ट स्थिति में होती हैं। दोनों को अपनी क्षमताओं का उपयोग एक-दूसरे के हित में करना चाहिए। वह समाज या वह सरकार क्या कार्य कर सकती है, जिनका परस्पर एक-दूसरे को दबाने, नीचा दिखाने या मिटाने का खेल ही समाप्त नहीं होता। मनुष्यों की बहुत बड़ी कमजोरियों में से एक यह है कि वह अपना कोई हित न होने पर भी दूसरे का अहित कर डालता है।

दूसरा आनंद क्यों भोगे?

किसी गांव में एक कुबड़ी बुढ़िया रहती थी। बच्चे उसका बहुत मजाक उड़ाया करते। इससे वह बहुत क्रुद्ध एवं चिढ़ी हुई थी। एक दिन मन्दिर में पूजा करने गई तो देवी प्रसन्न होकर बोली—"बुढ़िया! वरदान मांग ले।" बुढ़िया ने कहा—"जब आप इतनी प्रसन्न हैं तो यही वरदान दीजिए कि गांव वाले सारे कुबड़े हो जाएं।" देवी बोली—"अरे, यह क्या वरदान मांगा? इससे तुझे क्या फायदा है?" बुढ़िया ने कहा—"मेरे फायदे की चिन्ता न करें। यदि आप को वरदान ही देना है तो यही दीजिए ताकि गांव वालों को पता लग जाए कि कुबड़ा होना कितना कष्टकारी है।" आज सम्पूर्ण समाज की स्थिति बुढ़िया जैसी हो गई है। जो यह मानकर चलता है कि मैं तो दुःख में हूं सो हूं, पर अन्य व्यक्ति आनन्द क्यों भोग रहे हैं? जिस समाज के व्यक्तियों में ऐसे संकुचित एवं स्वार्थ-परक विचार होंगे, उनसे समता और न्याय की आशा करना कठिन है। विशेषकर उन व्यक्तियों से तो और भी कठिन है, जो बलात् समाज पर छाए हुए हैं और अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद आदि सभी अस्त्रों का उपयोग कर लेते हैं।

सामाजिक न्याय : प्रथम ईंट

न्याय के विषय में यदि यह सोचा जाता है कि वह नीचे वालों की ओर से विकसित होता हुआ ऊपर तक पहुंचेगा तो यह कभी होने वाला नहीं है। नीचे वाले इतने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशक्त हो चुके हैं कि वे कुछ करने की कल्पना तक भी नहीं कर सकते। वे कार्यान्वियन का साहस कैसे कर सकते हैं? उनसे यदि सामाजिक न्याय की प्रथम ईंट बनने की आशा करें तो सारा चिंतन व्यर्थ जाएगा। बहुत बार देखा गया है कि निम्न जाति का आदमी सार्वजनिक कार्यक्रमों में आगे आकर बड़े आदमियों के बीच बैठने तक का साहस नहीं कर सकता। आता भी है तो कहीं दूर कोने में ही बैठ जाता है। वरिष्ठ व्यक्तियों के संग रहने की तो बात बहुत दूर, वह उनके पास भी नहीं जा सकता।

बाधा है अस्पृश्यता

यद्यपि कानून कहता है कि अस्पृश्यता का व्यवहार दंडनीय है, पर सामाजिक स्तर पर अस्पृश्यता यथावत् जमी हुई है। अस्पृश्यता की जो अनेक दुःखद घटनायें मैंने अपनी आंखों से देखी हैं, उनमें से एक घटना का उल्लेख करना चाहता हूं। एक व्यक्ति तालाब के पास घड़ा लिए हुए बैठा था। वह तालाब से पानी ले जाने वालों से मिन्नतें करके पानी मांग रहा था। परन्तु कोई उसकी ओर ध्यान नहीं दे रहा था। मैंने स्थिति को समझने के लिए व्यक्ति से पूछा तो उसने बताया कि यह व्यक्ति अस्पृश्य जाति का है। अतः तालाब से पानी लेने के योग्य नहीं है। जो व्यक्ति यहां से पानी ले जा रहे हैं, उनसे ही यह पानी की याचना करता है। यदि उनमें से किसी के मन में दया आ जाएगी तो वह इसके बर्तन को भर देगा। मैंने सोचा, कौन व्यक्ति इसके बर्तन को भर देगा? किसके मन में करुणा आ जाएगी? मेरे देखते-देखते बीस व्यक्ति पार हो गए। वह दया तो किसी के मन में नहीं आई। अन्य आने वालों में से किसी के मन में दया आ भी जाएगी तो उस जाति का यह एक ही व्यक्ति तो नहीं है। इस जैसे अन्य भी हजारों व्यक्ति पानी को तरस रहे होंगे? इस प्रकार का व्यवहार कर क्या समाज उसके साथ न्याय करता है? यदि इस तरह का शोषित व्यक्ति न्यायालय की शरण में जाता है तो न्याय की टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में कहीं का कहीं भटक जाता है।

विलंबित और महंगा न्याय

न्याय की पद्धति क्रमशः विकसित हुई है, इसमें कोई संदेह नहीं। पर अब वह विकास ऐसी स्थिति में पहुंच गया है कि न्याय एक गोरख-धंधा बन गया है। न्यायालयों में प्रकरण चालू रखने के बाद न्याय मांगने वाला गौण हो जाता है, फिर तो न्याय की अपनी प्रक्रिया ही प्रमुख रहती है। सिखा-सिखाकर दिलाई गई गवाहियां तथा वकीलों की लम्बी बहसें न्याय को एक ऐसा विकट जंगल बना डालती हैं, जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। भटकते-भटकते जब वह उससे बाहर आता है तो बहुधा क्षत-विक्षत होकर ही आता है। लम्बा समय, प्रचर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यय और शोषण की अनेक स्थितियां उसके परिवेश की चिंदियां उड़ा डालती हैं ! बहुत विलम्बित और बहुत व्यय-साध्य वह न्याय उसके लिए अन्याय से भिन्न नहीं होता। न्यायाधिकारी भले ही उसे विकास की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग मानकर संतुष्ट हो लें परन्तु साधारण जन इस भूल-भुलैया जैसी प्रक्रिया से परेशान हैं। इतना विलम्बित और महंगा न्याय अपने विकास की नहीं, ह्रास की ही एक दुःखांत कहानी कहता प्रतीत होता है।

अंधा होता है न्याय

संस्कृत व्याकरण की समस्याओं को हल करने के लिए कुछ न्याय-सूत्र हैं। उनके प्रयोग की ओर संकेत करते हुए कहा गया है—'न्याया वृद्धयष्टि प्रायाः' अर्थात् ये न्याय बूढ़े की लड़की के समान हैं, आवश्यकता हो तभी टिकाओ, अन्यथा उठाए चलो। शायद न्याय की सर्वत्र यही दशा है। जहां लागू किया जाता है वहां वह बाल की भी खाल उधेड़ लेता है, अन्यथा घोड़े बेचकर सोया रहता है।

न्याय एक प्रकार से अंधा होता है, वह गवाहों के सहारे टटोलता हुआ आगे बढ़ता है, उस टटोल में मिले तथ्यों के आधार पर निर्णय करता है। पर तथ्य सदा ही सत्य नहीं होते। अनेक बार तो ऐसे बनावटी तथ्य प्रस्तुत किए जाते हैं कि सावधान से सावधान न्यायाधीश भी चक्कर खा जाता है। तथ्य सत्य से कितने दूर हो सकते हैं, इसके लिए एक घटना की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा।

तथ्य और सत्य

एक किसान का युवक पुत्र मध्याह्न के समय भोजन करने के लिए घर आया। बहुत तेज भूख लगी हुई थी। उसकी मां कहीं बाहर गई हुई थी। उसने रसोई घर में प्रवेश किया तो देखा कि अन्य भोजन सामग्री के साथ खीर बनाई हुई है। उसने अन्य सामग्री तो ज्यों की त्यों छोड़ दी, केवल खीर ही खाई। खीर समाप्त होने पर उसने सोचा कि अब इस चोरी से कैसे बचा जाए ? उसने एक उपाय सोचा और अपनी पालतू बिल्ली को रसोई में ले आया। उसके मुंह तथा पंजों पर बची-खुची खीर लगाकर उसे छोड़ दिया। रसोई घर से बाहर तक पंजों के निशान बनाती हुई बिल्ली चली गई। युवक निश्चित होकर सो गया। थोड़ी देर बाद युवक के माता-पिता भी घर पर आ गए। भोजन करने के लिए बैठे तब किसान को पता चला कि खीर का बरतन खाली है और रसोई घर से बिल्ली के पंजों के निशान हैं। इस तथ्य के आधार पर निष्कर्ष निकालने में उन्हें देर न लगी। क्रुद्ध किसान ने आव देखा न ताव, पास में पड़ी कुल्हाड़ी बिल्ली पर दे मारी, वह वहीं पर ढेर हो गई। किसान का बेटा देख रहा था कि अकाट्य तथ्य के आधार पर बेचारी बिल्ली मारी गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्याय प्रक्रिया बदले

न्यायालय में बहुत बार इसी प्रकार के बनावटी तथ्य प्रस्तुत होते रहते हैं। उनके आधार पर अन्यायी साफ बच जाते हैं और भोले पंछी फंस जाते हैं। मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि इसमें न्यायाधीशों का ही दोष है, उन्हें दोषी इसलिए नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वे जन-मान्य एक संविधान के आधार पर वैसा करने को बाध्य होते हैं। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि हर संविधान मानव-जाति के लाभ और उन्नति के लिए होता है। जब वह युगानुकूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अक्षम होने लगता है तब उसमें यथावश्यक परिवर्तन किया जाना आवश्यक होता ही है। लगता है, न्याय-प्रक्रिया को बदलना आज न्याय को सर्वसुलभ बनाने के लिए नितान्त अपेक्षित है।

अपराध का कारण

न्याय की चर्चा करते समय उन बिंदुओं पर भी सोचना आवश्यक है, जिनमें बाध्य होकर किसी व्यक्ति को दोष करना पड़ता है। व्यक्ति के दोषी बनने का सबसे बड़ा कारण गरीबी है। एक युवक ने कुछ दोष किया। उस पर मुकद्दमा चला। अभियुक्त ने न्यायालय में अपना अपराध स्वीकार कर लिया। उसने अपनी विवशता व्यक्त करते हुए बतलाया—उसका परिवार तीन दिनों से बिलकुल भूखा था इसलिए उसने अमुक दुकान से कुछ डबल रोटियां चुराई थीं।

न्यायाधीश ने अपराधी को अर्थ-दण्ड दिया और तत्काल दंड की अर्थ-राशि अपनी जेब से निकाल कर मेज पर रखते हुए कहा—यह रही तुम्हारी दण्ड-राशि। साथ ही न्यायाधीश ने वहां उपस्थित सभी व्यक्तियों को अपराधी बतलाते हुए कहा—केवल अभियुक्त ही नहीं, हम सब भी अपराधी हैं। क्योंकि हम ऐसे समाज में रह रहे हैं जहां व्यक्ति को भोजन के लिए चोरी करनी पड़ती है।

सामाजिक न्याय : विकास की दिशा

न्याय विषयक चिंतन करते समय हमें उन व्यक्तियों की पीड़ा को भी अच्छी तरह से समझना होगा, जो शोषित हैं, पीड़ित हैं, अधिकार-विहीन हैं और विवशता से पतन के गर्त में फंसे हुए हैं। ऐसे ही कुछ बिन्दु हैं, जहां सामाजिक न्याय का ह्रास अपनी चरम सीमा तक पहुंचा हुआ प्रतीत होता है। अपेक्षा है—उनका मुख विकास की दिशा में मोड़ दिया जाए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इतने वर्षों के बाद भी अभी तक उसका मुख उद्दिष्ट दिशा की ओर मुड़ा नहीं है। उसके लिए यों तो पूरा समाज ही दोषी माना जाएगा परन्तु मुख्यतः उसका दोष उन पर है, जो अधिकार-युक्त उच्चासनों पर स्थित हैं। चींटी की चाल से चलने वाला सुधार कब मंजिल तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुंचेगा, इस पर तो प्रश्नचिह्न ही लगा हुआ है। फिर भी आशा करनी चाहिए कि चिरकाल से सुप्त सामाजिक चेतना का पुनर्जागरण होगा, प्रगति के कुंठित पैरों में पुनः गतिमत्ता की स्फुरणा आयेगी, वैषम्य की चक्की में पिसते निर्बलतम नागरिक को भी न्याय की तुला पर निष्पक्ष एवं त्वरित न्याय मिलेगा। अवश्य ही सघन तिमिर के साम्राज्य को बिखेरता हुआ नवोदित प्रभात का वह समय सबके लिए कल्याणकारी होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास के पथ पर

प्रस्फोट आवश्यक

हम चेतन हैं, परन्तु हमारी चेतना पूर्ण विकास की स्थिति में नहीं है। वह अनन्तानन्त काल से पूर्वार्जित कर्मों तथा सस्कारों से आवृत है। उसे अनावृत करना है। आवृत से अनावृत की ओर सतत गति करने का नाम ही विकास है। बीज वृक्ष बनता है, कली फूल बनती है और मंजरी फल का रूप ग्रहण करती है, तो यह सब विकास के ही कारण फलित होता है। हमें विकास का मार्ग खोजना है। दूसरे की खोज हमारे काम आने वाली नहीं है, क्योंकि हमारा विकास बाहर से आने वाला नहीं है, वह तो हमारे ही अन्दर घटित होने वाली एक प्रक्रिया है। प्रत्येक बीज को स्वयं के प्रस्फोट में से गुजरकर ही वृक्ष बनना होता है, प्रत्येक कली को स्वयं फूटकर ही फूल बनना पड़ता है और प्रत्येक मंजरी को स्वयं ही रूपान्तरों की मंजिल तय करके फल बनना होता है। दूसरे बीज, दूसरी कली और दूसरी मंजरी की विकास-प्रक्रिया उसके किसी काम नहीं आती। पिता का धन या ऋण तो पुत्र को प्राप्त हो सकता है, पर उसका विकास उसे नहीं मिल सकता। उसे तो स्वयं को प्रस्फुटित करके ही पाया जा सकता है।

तीन गुण

विकास का मार्ग बहुत लम्बा होता है। पूर्णता की मंजिल तक पहुंचने से पूर्व विकास-क्रम की अनेक प्रक्रियाओं में से गुजरना पड़ता है। मार्गस्थ घाटियों की तरह अनेक घुमावों तथा अनेक उतार-चढ़ावों को पार करना होता है। भटक जाने का भय भी बना ही रहता है। ऐसी स्थिति में विकास-मार्ग पर चरण-न्यास करने वाले के लिए तीन गुण विशेष सहायक होते हैं—

१. श्रद्धा
२. साहस
३. धैर्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने पर विश्वास

श्रद्धा से तात्पर्य है—विश्वास, अपने आप पर विश्वास तथा अपने विकास की अनन्त सम्भावनाओं पर विश्वास। इसके अभाव में विकास के लिए कुछ सोचा ही नहीं जा सकता। आत्म-विश्वास के साथ आत्म-विकास का सीधा सम्बन्ध है। जितना गहरा विश्वास होगा, विकास उतना ही तेज होगा। आत्म-विश्वास के डगमगाते चरणों से आत्म-विकास के दुर्जेय शिखरों पर आरोहण नहीं किया जा सकता। आत्म-विकास की बात तो बहुत दूर है, सामान्य कार्यों की सफलता भी उसके अभाव में असम्भव हो जाती है। आपने कभी तार पर साइकिल दौड़ाते हुए व्यक्ति को देखा हो, तो अवश्य ही जानते होंगे कि वह कितनी सफाई से दौड़ता हुआ निकल जाता है। इसके विरुद्ध ऐसा दृश्य भी बहुधा देखने को मिल जाता है, जब सीधी और चौड़ी सड़क पर भी व्यक्ति लड़खड़ाकर साइकिल से गिर पड़ता है। प्रथम आत्म-विश्वास का और द्वितीय उसके अभाव का उदाहरण कहा जा सकता है।

मैं किसी अन्य व्यक्ति पर विश्वास करने के विषय में नहीं कह रहा हूं, स्वयं अपने पर विश्वास करने को कह रहा हूं। अन्य पर विश्वास करना द्वितीय कोटि का है। प्रथम कोटि का कार्य तो स्वयं पर विश्वास करना है। अन्य पर विश्वास करना सरल है, अपने पर कठिन। इसका कारण है, अन्य पर विश्वास करना हो, तब केवल मान लेने से कार्य चल सकता है, परन्तु अपने पर विश्वास करना हो, तब मानने से बिलकुल कार्य नहीं चलता। वहां तो पहले जान लेना होता है। मान लेना बहुत सरल है, जान लेना कठिन। हम भयवश दुष्ट व्यक्ति को भी सज्जन मान सकते हैं, वाणी से स्वीकार भी कर सकते हैं, फिर भी अन्तरंग में जानते वैसा ही हैं, जैसा कि वह है। उसकी सज्जनता पर हमें कोई विश्वास नहीं हो जाता। मानने में औपचारिकता चल सकती है, जानने में नहीं। उसका सम्बन्ध सीधा वास्तविकता से ही होता है। इसीलिए आत्म-विश्वास आज की परिस्थितियों में कठिन कार्य हो गया है। उसके अभाव में आत्म-विकास का द्वार खुल ही नहीं सकता। पूर्ण चेतना के महल में प्रविष्ट होने के लिए आवश्यक है कि आत्म-विकास का द्वार खुले और वह तब खुलता है, जबकि व्यक्ति आत्म-विश्वासी हो, श्रद्धाशील हो।

खतरा उठाने का साहस

दूसरा गुण है साहस। नयी तथा अपरिचित स्थितियों में प्रवेश साहस के बल पर ही किया जा सकता है। साहसहीन व्यक्ति जैसा है, जहां है, उसी से सन्तुष्ट रह लेता है, पर साहसी अपने विकास के नये आयामों में प्रविष्ट होता है, मार्ग की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाधाओं का सामना करता है और लक्ष्य-प्राप्ति के लिए 'करूंगा, अन्यथा मरूंगा' की दृढ़-प्रतिज्ञा लेकर चलता है। विकास का मार्ग अपरिचित में प्रवेश का मार्ग है। बिलकुल अज्ञात, अकल्पित स्थितियों में से गुजरना होता है। मन भयभीत होने लगता है कि न जाने आगे क्या होगा, कैसा होगा? उस समय साहस ही उसके कान में मंत्र फूंकता है कि खतरा उठाना ही श्रेयस्कर है। बिना खतरा उठाये कभी कोई विकास सम्भव नहीं होता। बीज यदि अपने प्रथम प्रस्फोट पर ही घबराकर विरत हो जाए तो कभी वृक्ष बन ही न पाये।

हर व्यक्ति लक्ष्य तो प्रायः ऊंचा ही बनाता है, मनःकल्पना के क्षेत्र में कोई किसी से नीचे स्तर का रहना नहीं चाहता, परन्तु उस तक पहुंचने में बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह एक प्रकार का रण-क्षेत्र है। साहस के बिना उसमें प्रवेश का भी खतरा उठाया नहीं जा सकता। विजय की तो फिर बात ही बहुत दूर रह जाती है। प्रबल साहसी ही वहां पग रोपकर खड़ा रह सकता है, शेष सब भाग खड़े होते हैं। इसीलिए मेरा मानना है कि पूर्ण विकास के लिए आत्म-विश्वास के साथ साहस का योग होना अत्यन्त आवश्यक है।

मार्ग का स्वयं निर्माण

रेल के लिए पटरी बिछी हुई होती है, मोटर आदि अन्य वाहनों के लिए सड़कें हैं, मार्ग हैं, पगडंडियां हैं, वे उन पर सरपट दौड़ते चले जा सकते हैं, परन्तु आत्म-विकास के लिए कोई पूर्व निर्मित पटरी, सड़क, मार्ग या पगडंडी नहीं हो सकती। प्रत्येक को स्वयं ही अपना मार्ग बनाना होता है। किसी अन्य का मार्ग अपने लिए उपयोगी नहीं हो सकता। इसमें कारण है। प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार, स्वभाव तथा आवरण भिन्न-भिन्न हैं, अतः उनके रूपान्तरण तथा विलय के मार्ग भी भिन्न प्रकार के ही होंगे। उनमें क्वचित् समानता परिलक्षित हो सकती है, परन्तु पूर्ण समानता कभी नहीं होती। नीतिकार ने कहा है—

लीक-लीक गाड़ी चलै, लीक ही चलै कपूत।
लीक छोड़ तीनूं चलै, सायर, सिंह सपूत॥

बंधी-बंधाई लीक पर या तो गाड़ी चलती है या फिर कपूत चलता है, क्योंकि रूढ़ लीकों—परिपाटियों को बदल डालने का उनमें कोई साहस नहीं होता। नदी, सिंह और सपूत तो पुरानी लीक को छोड़कर अपना मार्ग स्वयं बनाते हैं। उसमें पुराने मार्ग का भी कुछ भाग आ सकता है, पर वह अपने विवेक के निर्णय से ही आता है, पुराना है—इसलिए नहीं। पुराने का परित्याग और नये का निर्माण दोनों ही साहस की अपेक्षा रखते हैं। उसके बिना आज तक कोई भी विकास सम्भव नहीं हो पाया है, आगे भी नहीं हो पायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धैर्य की आवश्यकता

तीसरा गुण है धैर्य। श्रद्धा और साहस के पश्चात् भी विकास के अन्तिम शिखर तक पहुंचने के लिए धैर्य की महती आवश्यकता रहती है। मार्ग की प्रलम्बता तथा चढ़ाई की दुरूहता मन को कभी भी अधीर बना सकती है। जब व्यक्ति सफलता के एकदम समीप पहुंचकर भी यह सोचकर निराश वापस लौट पड़ता है कि न जाने अभी कितना चलना और शेष है?

कोई पत्थर यदि हथौड़े की दसवीं चोट से टूटने वाला है तो यह असम्भव नहीं कि कभी हम थककर नौवीं चोट देकर ही हथौड़ा फेंक दें और कहें कि मेरे से यह टूटने वाला नहीं है। हमारी अधीरता हमें केवल एक चोट के लिए असफल बना देती है।

स्वर्ण भण्डार

पूर्ण सफलता तक डटे रहने का धैर्य जुटा पाना बड़ा कठिन कार्य है। कोई-कोई ही ऐसा कर पाते हैं। अमेरिका के कोलरेडो क्षेत्र में स्वर्ण की खदानें मिलने का पहले-पहल पता चला, तब अनेक धनिकों ने वहां भूमि खरीदी और स्वर्ण निकालने लगे। एक करोड़पति ने तो ऐसा साहस किया कि अपनी पूरी पूंजी ही उस कार्य में लगा दी। उसने एक पूरा पहाड़ ही खरीद लिया। बड़ा क्षेत्र था और बड़ी पूंजी लगाई गई थी तो यंत्र भी नये और बड़े लगाये गये। कार्य प्रारम्भ हुआ। काफी नीचे तक खुदाई की गई, पर स्वर्ण का कहीं कोई पता नहीं चला। धनिक को बड़ी घबराहट हुई। पूरी पूंजी डूब जाने की स्थिति सामने थी। आखिर उसने यंत्रों-सहित पूरे पहाड़ को बेचने का विज्ञापन निकाल दिया। घरवालों ने कहा—"अब उसे कौन खरीदेगा? सबको पता लग चुका है कि उस पहाड़ में कहीं स्वर्ण नहीं है।" धनिक को फिर भी आशा थी कि शायद किसी के सिर पर मेरी ही तरह स्वर्ण का भूत सवार हो और वह खरीद ले। उसकी आशा सत्य निकली। एक व्यक्ति ने अगले ही दिन उसे खरीद लिया। बन्द पड़ी खुदाई यथाशीघ्र पुनः चालू की गयी। पहले ही दिन केवल एक फुट भूमि और खोदने पर प्रचुर मात्रा में स्वर्ण निकल आया।

विक्रेता धनिक को जब ये समाचार ज्ञात हुए तो वह उससे मिलने गया और बोला—"तुम बड़े भाग्यशाली निकले। मुझे तो मेरे दुर्भाग्य ने धोखा ही दिया।"

उस व्यक्ति ने कहा—"नहीं, मित्र! यह दुर्भाग्य का नहीं, अधैर्य का फल है। यदि तुम थोड़ा धैर्य और रख पाते तथा खुदाई को मात्र एक फुट और आगे बढ़ा लेते तो यह सारा स्वर्ण-भण्डार तुम्हारा होता।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास-त्रयी

धैर्य के अभाव में ऐसी असफलता का शिकार कोई भी हो सकता है। अपने ही अन्दर अवस्थित विकास का स्वर्ण-भण्डार केवल एक फुट की दूरी पर रह जाता है और हम धैर्य के अभाव में सफलता के द्वार तक पहुंचकर खाली हाथ वापस लौट आते हैं। इसीलिए कहा जा सकता है कि विकास की पूर्णता की ओर बढ़ने वाले मनुष्य को तीनों गुणों की नितान्त अपेक्षा है। एक का भी अभाव गति को कुंठित कर देता है। श्रद्धा हमारे में योग्यता का विकास जगाती है, साहस विघ्नों की छाती चीरकर आगे बढ़ाने में सहायता देता है और धैर्य अन्तिम शिखर पर पूर्ण विजय का ध्वज फहराने तक डटे रहने में सहायक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरित्र-विकास

चरित्र क्या है ?

संसार में यदि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ है तो वह चरित्र-बल है। चरित्र का विकास ही देश की गरिमा को व्यक्त करता है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि चरित्र-विकास के बिना ही किसी समाज तथा देश ने कभी कोई महत्ता अर्जित की हो। चरित्र, सदाचार, नैतिकता या प्रामाणिकता ही वह महान् आधार है, जिस पर कोई भी विकास खड़ा होता है। सद्विचार और सदाचार का समन्वित रूप ही चरित्र होता है। सद्विचार-शून्य अथवा सदाचार-शून्य व्यक्ति की चरित्रवत्ता पूर्ण नहीं कही जा सकती। वस्तुतः वह चरित्रवत्ता होती ही नहीं।

शरीर के ऊर्ध्वांग और अधोंग की ही तरह चरित्र के ये परस्परापेक्षी दो अंग कहे जा सकते हैं। सद्विचार को चरित्र का मस्तिष्क कहा जाए तो सदाचार को पैर कह सकते हैं। किसी भी एक के अभाव में दूसरे की मौलिकता नहीं रह जाती। विकलांग की तरह वे अधूरे और निरुपयोगी हो जाते हैं।

प्रथमावरत्व

'**आचारः प्रथमो धर्मः**' इस आर्ष वाक्य में आचार को मनुष्य का प्रथम धर्म कहा गया है। इसी प्रकार जैनागमों में '**आयारे निच्चं पंडिया**' इस वाक्य में यही जताया है कि साधु पुरुष वही है, जो आचार में निरन्तर जागरूक होता है। किन्तु इन सब कथनों का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह विचार-रिक्त होता है। मूल बात तो यह है कि आचार के महल के लिए विचार की नींव सदैव अपेक्षित रही है। बिना नींव का महल टिक नहीं सकता। हर आचार को विचार के प्रकाश में ही आगे बढ़ने का मार्ग मिलता है तो हर विचार को आचार की अग्नि-परीक्षा देने पर ही मान्यता प्राप्त होती है। इनमें एक के बाद दूसरे का महत्त्व चक्राकार कहा जा सकता है। किसी एक को प्रथम या अवर नहीं कहा जा सकता। अपेक्षा-भेद से दोनों ही प्रथम या दोनों ही अवर होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचारधारा और आचार

कहा जाता है कि व्यक्ति का जीवन उसके चिन्तन के अनुरूप ही बनता है। जैसी विचारधारा होती है, वैसे ही आचार में मनुष्य ढलता चला जाता है। हर आचार के पूर्व में विचार की शक्ति काम करती रहती है। विचार मजबूत हो तो व्यक्ति का जीवन मजबूत बन जाता है। विचार शिथिल और निर्बल हो तो जीवन भी निर्बल और शिथिल ही रहता है। मनोवैज्ञानिक तो यहां तक कहते हैं कि अधिकांश शारीरिक विकार या रोग भी विचार की ही उपज हैं। वस्तुतः विचारों की सबल जड़ें जब पोष प्रदान करती हैं, तभी आचार का वृक्ष फलता-फूलता है।

समन्वित शक्ति

विद्युत् ऋण शक्ति और धन शक्ति का समन्वित रूप है। दोनों मिलकर ही प्रकाश करती हैं। उसी प्रकार विचार और आचार भी समन्वित होते हैं, तभी जीवन प्रकाशमय बनता है। कोरा विचार पंगु होता है तो कोरा आचार अंधा। घर में लगी आग से न पंगु बच सकता है और न अंधा, किन्तु वे दोनों मिलकर समन्वित प्रयास करें तो बच सकते हैं। दूध के गुण धर्मों का विचार नहीं करने वाला किसी अन्य तद्रूप वस्तु को भी दूध मान सकता है, परन्तु उससे दूध का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। इसी तरह केवल दूध के गुण-धर्मों को जान लेने वाले को भी तब तक उससे कोई शक्ति नहीं मिल पाती, जब तक कि वह उसे पी नहीं लेता। मंजिल तक पहुंचने के लिए उसे जानना तथा उसकी ओर चलते जाना— दोनों ही समान रूप से आवश्यक होते हैं। इन सभी उदाहरणों का निष्कर्ष एक ही है कि विचार और आचार की समन्वित शक्ति ही मनुष्य को उन्नति की ओर ले जा सकती है।

उन्नति की प्रक्रिया

वर्तमान युग में मनुष्य का चिन्तन बहुत आगे बढ़ा है। एतद्विषयक उसकी शक्ति तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर हुई है, किन्तु उसका क्रिया-पक्ष काफी पिछड़ गया है। यही कारण है कि उसके सम्मुख आज अनेक समस्याएं सिर उठा रही हैं। क्रिया-पक्ष के पिछड़ेपन को मिटाना है तो प्रत्येक सुविचार को आचार में परिणत करने की तैयारी करनी होगी। उनकी परस्पर अत्यधिक दूरी ही समस्याओं का समाधान नहीं होने देती। सुविचारों की पृष्ठ-भूमि पर आचार को आगे बढ़ाने का उपक्रम करना, उन दोनों का सामंजस्य बिठाना युग की आवश्यकता है। विचार आचार में ढले और फिर आचार नये विचार के बीज उत्पन्न करे, यही उन्नति की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्रिया है। इसका अवरोध उन्नति का अवरोध होता है, वस्तुतः वह जीवन का ही अवरोध होता है।

वास्तविक दृष्टिकोण

कुछ लोगों का चिन्तन है कि इस प्रक्रिया से कुछ सुधार हो सकता है, परन्तु दो-चार या फिर दस-बीस व्यक्तियों के सुधर जाने से कोई समाज थोड़े ही सुधर जाता है? समाज के सुधरे बिना उन कुछ व्यक्तियों से क्या होना-जाना है? करोड़ों लोग जब विपरीत मार्ग पर चल रहे हैं, तब थोड़े से लोग ठीक मार्ग पर चलते हुए भी दुःख ही उठा सकते हैं। परन्तु यह चिन्तन परिपूर्ण नहीं है, क्योंकि समाज कोई वास्तविक वस्तु नहीं है। वह तो व्यक्तियों की ही सामष्टिक अवस्था का नाम है, अतः व्यक्ति के सुधरे बिना वह सुधर ही नहीं सकता। सन्मार्ग पर चलते हुए यदि कुछ व्यक्तियों को कष्ट उठाने पड़ते हैं तो वे उन्हें सहर्ष उठाने चाहिए। वह उनकी कसौटी मानी जायेगी। उससे उनका व्यक्तित्व और अधिक निखरेगा तथा अन्य व्यक्तियों को उससे मार्ग-दर्शन एवं साहस मिलेगा। वास्तविक दृष्टिकोण में व्यक्ति-सुधार ही विश्व-सुधार की भूमिका है। भूमि के एक-एक खण्ड को उपजाऊ बनाया जाए, तभी बहुत सारा क्षेत्र उपज के योग्य बनता है। उस समय यह सोचकर कार्यविरत हो जाना उचित नहीं कि सारी भूमि तो उपजाऊ बनने से रही, फिर इस थोड़ी-सी को उपजाऊ बनाने से क्या लाभ? ऐसा करने वाले स्वयं तो भूखों मरते ही हैं, समाज को भी भूखा मार देते हैं।

गर्वोक्ति नहीं, वस्तुस्थिति

भारत की नैतिकता पूर्व काल में बहुत ऊंची रही है। यह हम विदेशी यात्रियों द्वारा भारत के विषय में लिखित पुस्तकों से भलीभांति जान सकते हैं। उन्होंने अपने यात्रा-संस्मरणों में लिखा है कि भारत एक महान् देश है। उसका चरित्र बहुत उज्ज्वल है। वहां के लोग चोरी नहीं करते। समान से भरी दुकानों पर भी ताला लगाने की कभी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि कोई किसी की वस्तु को नहीं उठाता। ये उल्लेख दूर से आने वाले उन यात्रियों ने किये हैं, जो वर्षों तक भारत मे रहकर अपने देश में लौट गये थे। अपनी उस महत्ता से स्वयं भारतवासी भी कोई अपरिचित नहीं थे। वे उसे अच्छी तरह से जानते थे। तभी तो स्मृतिकार महर्षि मनु ने कहा—

एतद्देश प्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

यदि कोई चरित्र की शिक्षा लेना चाहे तो वह भारत के मनीषियों से ले। इस उक्ति से बहुत लोगों को लग सकता है कि यह तो गर्वोक्ति है, किन्तु जब इन्हीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बातों का उल्लेख दूर से आगत यात्रियों ने किया है तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यह गर्वोक्ति नहीं, किन्तु वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन है। आज लोग इसे इसलिए अतिशयोक्ति या गर्वोक्ति मान बैठते हैं, क्योंकि वर्तमान की भारतीय जीवन-पद्धति अत्यन्त अस्त-व्यस्त हो चुकी है।

आज की स्थिति

पूर्व स्थिति से आज की स्थिति सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। आज समाज में सदाचार के प्रति उतनी जागरूकता नहीं है, जितनी पहले थी। दुराचार पर पहले की ज्यों आज निर्भीक अंगुली नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि प्रायः सर्वत्र उसके भी समर्थक मिलने लगे हैं। आदेशों के प्राचीन मानदंड बदल गये हैं तथा बदलते जा रहे हैं। सत्य-निष्ठा के चरण डगमगाए हैं और स्खलित भी हुए हैं। इस स्खलना के अनेक कारणों में से एक कारण भारत की परतंत्रता भी बनी है। सैकड़ों वर्षों तक भारतीय जनता दूसरों के शासन में रही। फलस्वरूप वह अपनी संस्कृति को भूलने लगी और उसमें चारित्रिक ह्रास होने लगा। शताब्दियों के पश्चात् जनता ने अनेक बलिदानों के आधार पर स्वतंत्रता प्राप्त की है। अब उसे अपनी संस्कृति और चरित्रबल को पुनः सुधारना है, उन्हें विकासोन्मुख करना है। संस्कृति को जन-मानस में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए सदाचार की अवरुद्ध सुर-सरिता को प्रवाहित करना होगा, जनता के सोये पौरुष को जगाकर उसे कर्तव्य-बोध देना होगा।

घसीटा बनाम शेर सिंह

समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा कोई कठिन कार्य नहीं है। उसमें व्यक्ति को जरा-सा अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ता है। वह जब स्वरूप और स्व-सामर्थ्य को पहचान लेता है तो उसके लिए कोई कार्य कठिन नहीं रह जाता। स्व-सामर्थ्य से परिचित व्यक्ति दीन-हीन नहीं रहता, वह सबल और सर्वक्षम बन जाता है। एक कहानी इस तथ्य को अधिक स्पष्ट कर देगी।

एक साहूकार से एक व्यक्ति ने कुछ ऋण लिया। काफी समय बीत गया, वह उसे चुका नहीं सका। साहूकार जब-जब उसे देखता, कुछ खरी-खोटी सुना देता। एक बार दोनों अचानक मार्ग में मिल गये। साहूकार ने आंखें तरेरकर कहा—'क्यों बे! इस बार ब्याज के रुपये क्यों नहीं भरे? मालूम पड़ता है, तेरी नीयत खराब हो गई है।'

विनम्र भाव से झुकते हुए उस व्यक्ति ने कहा—'सरकार, इस बार कुछ व्यवस्था नहीं बैठ पाई है। अगले महीने एक साथ ही दे जाऊंगा।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहूकार अकड़ा और आंखें लाल कर बोला—"मैं कुछ नहीं जानता। मुझे आज ही रुपये देने होंगे।"

उसका हाथ पकड़ कर मरोड़ दिया, गालियां दी और दो-चार थप्पड़ जड़ते हुए कहा—'अबकी बार रुपये नहीं लाया तो जान निकाल दूंगा, हरामजादे की।'

गरीब व्यक्ति गालियां सुनकर और मार खाकर भी गिड़गिड़ाया, हाथ जोड़े, माफी मांगी और शीघ्र ही पूरे रुपये ला देने का वचन देकर चला गया।

संयोग वश एक तीसरा व्यक्ति वहीं कुछ दूर खड़ा हुआ उन दोनों की बातें सुन रहा था। वह थोड़ा तेज चलकर उस गरीब व्यक्ति से मिला और पूछा—'तुम्हारा क्या नाम है?'

गरीब ने कहा—'घसीटा।'

वह व्यक्ति ठहाका मारकर हंस पड़ा और बोला—"यही बात है कि तुम इस प्रकार गालियां सुनते हो और मार खाते हो। अपने आपको घसीटा मानने वाले हर व्यक्ति की यही दशा होती है। परन्तु यह तो बतलाओ कि जब तुम्हारा हट्टा-कट्टा शरीर है, मजबूत मांस-पेशियां हैं, आंखों में लाली है, फिर तुम किसी की गालियां क्यों सुन लेते हो और मार क्यों खा लेते हो?"

घसीटा ने कहा—'सेठ मुझसे रुपये मांगता है, इसीलिए इतनी तकरार हो रही थी।'

उस व्यक्ति ने कहा—'सेठ रुपये मांगता है तो उन्हें ईमानदारी से चुकाओ, परन्तु उसके लिए यों गालियां सुनने और मार खाने की क्या आवश्यकता है? यह सब तो तुम अपनी मानसिक दुर्बलता से ही सहन करते हो। तुम्हारा नाम तुम्हारे में आत्म-विश्वास उत्पन्न नहीं होने देता। 'घसीटा' यह भी भला कोई नाम हुआ? शरीर से जब तुम शेर की तरह हो तो शेर की तरह ही निर्भीक रहो। मुट्ठी भर हड्डियों का ढांचा वह सेठ तुम्हारे सामने क्या चीज है? याद रखो, आज से तुम 'घसीटा' नहीं, शेरसिंह हो।'

घसीटा के मन में भी बिजली-सी कौंध गई। उसे लगने लगा, वस्तुतः ही वह घसीटा नहीं, शेरसिंह है। उसने निर्णय किया कि अब वह फिर कभी 'घसीटा' नहीं बनेगा।

उक्त घटना के कुछ दिन पश्चात् ही एक बार फिर साहूकार सामने मिल गया। उसने सदा की तरह उसे ललकारते हुए कहा—'अबे ओ घसीटे के बच्चे! अब तक भी रुपये नहीं लाया। हरामजादे! कह रहा था न कि शीघ्र ही ला दूंगा।'

साहूकार की कड़कड़ाती आवाज सुनकर भी वह सीधा खड़ा रहा। यह प्रथम अवसर ही था कि न वह गिड़गिड़ाया और न दांत निपोर कर दया की भीख मांगी। सहज भाव से बोला—'सेठ साहब! अब मैं घसीटा नहीं, शेरसिंह हूं। रुपये हाथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आने पर मैं स्वयं पहुंचा दूंगा। परन्तु उनके लिए ओछी जबान सुनने को तैयार नहीं हूं।'

सेठ अधिक उग्र हुआ और भभका—'मूर्ख ! कमीने !! नालायक !!! मेरे रुपये मारकर बैठ गया और फिर सामने बोलता है, शर्म नहीं आती बेशर्म को ?'

शेरसिंह बीच में ही बोल पड़ा—"रुपये दूंगा, पर ये गालियां नहीं सहूंगा और न मार ही खाऊंगा। जबान सम्भाल कर बोलिये, नहीं तो झगड़ा हो जायेगा।"

सेठ ने उसकी तमतमाती हुई आकृति की ओर देखा तो सकपका गया। स्थिति को भांपते ही अपनी आवाज को मध्यम कर दिया और बात को नया मोड़ देते हुए कहा—'अरे भाई ! तुम तो बुरा मान गये। गाली कौन देता है ? मैं तो रुपयों के लिए कह रहा था कि जब हाथ में हों, तो शीघ्र दे देना।'

चरित्र विकास का अर्थ

हार्द यह है कि विचारों की निर्बलता ही आदमी को 'घसीटा' बनाए हुए है। यदि वह मिट जाती है तो उसे शेरसिंह बनने में क्षण भर भी नहीं लगता। स्वत्व का अज्ञान ही बाधक बना हुआ है कि मनुष्य सदाचारी एवं नैतिक नहीं बन पा रहा है। विचारों की उक्त हीनता को दूर करने की महती आवश्यकता है। यह होने पर मनुष्य के सदाचारी बनने में कोई विम्लब नहीं होगा। सुधार की यह एक प्रक्रिया है कि सर्व प्रथम मनुष्य अपने सामर्थ्य का अनुभव करे। ऐसा करने से आत्मोद्बोध होता है और आत्म-विश्वास जागता है। तब फिर हर कार्य उसके लिए सुगम हो जाता है। अणुव्रत के माध्यम से कही जाने वाली चारित्रिक उत्थान की बात केवल चरित्रोत्थान की ही नहीं, वह विचारोत्थान की भी है। केवल चारित्रिक या वैचारिक उत्थान वास्तविक नहीं होता, वह केवल उत्थान का भ्रम ही होता है। दोनों का संतुलित व समन्वित उत्थान ही वास्तविक कहा जा सकता है। इसी को चरित्र-विकास कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन के तीन सूत्र

शक्ति-भण्डार

जन्म एक बात है, परन्तु जीवन बिल्कुल दूसरी। जन्मते सभी हैं, परन्तु जीवन को जीने वाले बिरल ही होते हैं, अधिकांश तो जीवन को ढोते हैं। उसी प्रकार जैसे मुर्दे को ढोया जाता है या भार को ढोया जाता है। सचमुच ही अनेक लोगों की दृष्टि में जीवन एक भार बन गया है। अनचाहा भार, जिसे विवशता पूर्वक ढोना पड़ता है। वे यथाशीघ्र उससे छुटकारा पाने को आतुर हैं। वे नहीं जानते कि जीवन अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का भण्डार है। जिस शक्ति और आनन्द को आज तक उन्होंने बाहर खोजा है, वह बाहर न होकर अपने ही अन्दर है। जो जहां नहीं है, वहां उसकी खोज निरर्थक है, उसे निराशा ही हाथ लगती है। 'कांख में छोरा नगर में ढिंढोरा' की कहावत ऐसे ही कार्यों के लिए प्रचलित है।

वस्तु कहीं, खोज कहीं

एक बुढ़िया अपने फटे वस्त्र को सी रही थी। अचानक सूई हाथ से छूट गई और खो गई। संध्या का समय था। अंधेरा हो चुका था। बुढ़िया ने सोचा, अंधेरे में खोजने से कोई लाभ नहीं, प्रकाश में खोजूं, तभी वह मिलेगी। घर में प्रकाश करने के बजाए उसने सड़क पर जल रही बिजली के प्रकाश में खोजना प्रारम्भ किया। वह वहां खोजती रही, खोजती रही, किन्तु सूई जब वहां थी ही नहीं, तब मिलती कैसे ?

मार्ग से गुजरते हुए एक युवक का ध्यान बुढ़िया की परेशानी की ओर गया। उसने पास में आकर पूछा—"क्या खो गया है, बूढ़ी अम्मा ?"

बुढ़िया ने उसी परेशानी के साथ कहा—"सूई खो गई है, बेटा ! बहुत समय से खोज रही हूं, परन्तु मिल ही नहीं रही है।"

युवक बोला—"तुम ठहरो। मैं खोज देता हूं। युवक ने भूमि पर इधर-उधर दृष्टि घुमाते हुए पूछा—"कहां खोई थी अम्मा ?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुढ़िया ने हाथ से अपने घर की ओर संकेत करते हुए कहा—"वहां घर के आंगन में खोई थी।"

युवक ने साश्चर्य कहा—"वहां खोई थी, तब यहां क्यों खोज रही हो?"

बुढ़िया बोली—"वहां अंधेरा था, यहां प्रकाश है। जब यहां प्रकाश में भी नहीं मिल रही है, अंधेरे में तो वह मिलती ही क्या?"

युवक ने समझाते हुए कहा—"यहां तो वह जीवन भर खोजने पर भी नहीं मिलेगी। जहां खोई है, वहीं प्रकाश करके खोजो।'

यह एक कहानी है। पता नहीं, सत्य है या काल्पनिक, परन्तु इसका निष्कर्ष सनातन सत्य है। शक्ति और आनन्द को अपने से बाहर खोजने वाले उस बुढ़िया जैसे ही हैं। उनके घर में वैसे ही अंधेरा है, जैसा बुढ़िया के घर में था। वे भी बुढ़िया की ही तरह शक्ति और आनन्द की खोज वहां करते हैं, जहां उनका अस्तित्व ही नहीं होता।

जिन 'खोदा', तिन पाइया

शक्ति और आनन्द अपने में हैं अवश्य, परन्तु सहज सुलभ नहीं हैं। बहुत लम्बे समय से उन पर आवरण चढ़ते रहे हैं, अतः उनका अस्तित्व बाह्य दृष्टि से ओझल हो चुका है। अन्तर-दृष्टि सबको सुलभ नहीं होती, अतः सबको यह विश्वास प्राप्त नहीं है कि स्वयं उनके अन्दर शक्ति और आनन्द का अनन्त स्रोत प्रवाहित है। धरती के नीचे बहने वाले पानी के स्रोत की ही तरह उसकी स्थिति अदृश्य होते हुए भी सन्देह से परे है। कहा जाता है कि 'जिन खोजा, तिन पाइयां' परन्तु यहां कहना चाहिए—'जिन खोदा, तिन पाइया।' जिसने धरती को खोदा, उसे पानी अवश्य मिला, परन्तु उसके लिए तब तक खोदते जाना आवश्यक होता है, जब तक कि पानी मिल न जाए। मिट्टी, कंकर और चट्टानों से डरने की आवश्यकता नहीं, रुकने की भी आवश्यकता नहीं। उन्हें तो तोड़ना ही होता है, चाहे आज, चाहे कल, चाहे फिर कभी। इसी तरह शक्ति और आनन्द के स्रोत को पाने के लिए स्वयं को खोदना पड़ता है। बीच में पड़ने वाली अज्ञान की चट्टानों की पर्तों को तोड़ना पड़ता है, पूर्वाग्रहों की मिट्टी के ढेर हटाने पड़ते हैं। इस प्रकार निरन्तर अपनी गहराई में पैठता हुआ मनुष्य एक दिन अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द के स्रोत को कहीं बिना भटके अपने में ही पा लेता है।

वही मंजिल, वही मुक्ति

यह पा लेना कोई बाहर से आने वाली वस्तु के पा लेने जैसा नहीं है। यह तो अपने ही घर में विस्मृत अपनी वस्तु को पा लेने जैसा है। वस्तुतः यह अपने में अपने को ही पा लेना है। अपने आपको पा लेना ही मंजिल है, मुक्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो अपने को खोदने में लगे हैं, वे अपने लक्ष्य की सिद्धि में लगे हुए हैं। वे जीवन को जीने में लगे हुए हैं। जो इस खुदाई से बचकर निकलते हैं, वे जीवन को जीने से बचकर निकलते हैं। वे फिर जीवन का केवल भार ढोते हैं। जिनके सम्मुख अपना कोई लक्ष्य नहीं होता, दिशा नहीं होती और मंजिल भी नहीं होती, उनके सम्मुख केवल भटकन होती है, अनन्त भटकन, जिसमें लगता तो है कि गति हो रही है, परन्तु पहुंच कहीं भी नहीं होती। तेली का बैल सारे दिन चलकर भी कहीं नहीं पहुंच पाता। वहीं रहता है, जहां से चलना प्रारम्भ करता है।

वर्तमान का आदर

जीवन को जीने की ओर प्रवृत्त होने से पूर्व उसकी भूमिका के रूप में कुछ तथ्यों को जान लेना आवश्यक है। जिन्हें मैं जीवन के सूत्र कहना पसन्द करूंगा। पहला सूत्र है—वर्तमान में जीना। अतीत बीत चुका होता है और भविष्य अनागत। एक की स्मृति और दूसरे की कल्पना ही की जा सकती है। मूलतः दोनों ही असत् हैं, अविद्यमान हैं। सत् या विद्यमान तो केवल वर्तमान ही होता है। उसे सार्थक बनाना आवश्यक है। वर्तमान जब मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होता है, तब यदि मनुष्य उसे अतीत या भविष्य के चिन्तन की यान्त्रिक आदत में खोया हुआ मिले, तो वह चुपचाप आगे बढ़ जाने के अतिरिक्त और क्या करे? वह चला जाता है। मनुष्य तब प्रायः पीछे से उसके विषय में चिन्ता करता है कि वह समय निष्फल चला गया। इस प्रवृत्ति को रोकना है। वर्तमान को सफल बनाना है। उसका एक ही तरीका है कि वर्तमान में जीया जाये। वर्तमान का आदर करना सीखे बिना न अतीत का ही आदर किया जा सकता है और न अनागत का ही।

सहजता

दूसरा जीवन सूत्र है—सहजता से जीना। मनुष्य का प्रायः सारा जीवन औपचारिकता में ही बीतता है। एक मुखौटा सदा लगाये रहना पड़ता है ताकि उसका मूल रूप किसी के सम्मुख उद्घाटित न होने पाये। धीरे-धीरे वही स्वभाव हो जाता है। मुखौटा मूल हो जाता है और मूल विस्मृत। अपने आपके सहज रूप को प्रकट होने देने की आवश्यकता है। यदि वह विकृत भी हो तो भी उसी रूप को प्रकट होने देना चाहिए। ढकने से विकृति दूर नहीं हो पाती। उल्टा यह विश्वास होने लगता है कि हमारी विकृति का किसी को कोई पता नहीं चल सकेगा। सभी इस मुखौटे को ही मूल रूप मान लेंगे। परन्तु इस भ्रान्ति में नहीं रहना चाहिए। कोई जाने या न जाने, स्वयं तो स्वयं को जानता ही है। स्वयं से छिपकर मनुष्य कहीं जा नहीं सकता। स्वयं को स्वयं से छिपा नहीं सकता। इसीलिए सहजता को खुलने देना है। उससे अपने को अच्छी तरह से जानने और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुधारने का अवसर मिलता है। नाटक के पात्र की तरह कृत्रिमता में नहीं, वास्तविकता में जीना है।

अनासक्ति

तीसरा सूत्र है—अनासक्त होकर जीना। साधारणतया मनुष्य विविध सम्बन्धों, संस्कारों और विकारों से घिरा हुआ रहता है। बाहर से ही नहीं, भीतर से भी घिरा हुआ होता है। वह किसी का मित्र होता है, तो किसी का शत्रु, किसी का प्रिय तो किसी का अप्रिय, इसी तरह किसी के प्रति उदार और किसी के प्रति अनुदार। कभी क्रोध में तो कभी अहंकार में। इन बाह्य और आन्तरिक घिरावों के कारण उसे कभी एकान्त चिन्तन का तथा सबसे दूर रहकर स्वयं को जानने एवं समझने का भी अवसर नहीं मिलता। इन बाह्य तथा आन्तरिक आच्छादनों में मनुष्य की आसक्ति इतनी गहरी हो जाती है कि उससे दूर हटकर जीने में उसे भय लगने लगता है।

आवरण की वृत्ति पर विजय पाएं

मन के आच्छादनों की आसक्ति तो बहुत गहराई की बात है, जबकि तन के आच्छादनों की आसक्ति को छोड़ पाना भी कठिन होता है। सौ-सौ विचार या विकल्प सामने आ खड़े होते हैं। सरदी लग जाने, अभाव-ग्रस्त या अशिष्ट कहलाने से लेकर तन की विकृतियों या खामियों का सबके सामने आ जाने तक का भय सताने लगता है। मनुष्य जितना अपनी शारीरिक वास्तविकता से—अनावृतता से कतराता है, उससे कहीं अधिक मानसिक वास्तविकता के उद्घाटन से कतराता है। विभिन्न प्रकार के आवरणों के साथ ही वह अपनी आन्तरिकता या बाह्यता को संसार के सम्मुख प्रस्तुत करने का अभ्यस्त हो गया है। वस्त्रावरण रहते हुए हमारी अंगुलियां हमारे शरीर तक नहीं पहुंच पातीं, उसी तरह संस्कारों और विकारों के आवरण हमें स्वयं हमारे तक नहीं पहुंचने देते।

इसलिए स्वयं को ढक लेने या आवृत कर लेने की इस वृत्ति पर विजय पाकर ही वास्तविक जीवन तक पहुंचा जा सकता है। जीवन के ये सूत्र अपने को अपनी गहराइयों तक खोदकर पा लेने में नितान्त सहायक होते हैं। **'नान्यः पन्था अयनाय'**—दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य और उसकी डगमगाती निष्ठा

मन ही मनुष्य है

संसार की सबसे बड़ी समस्या चारित्रिक अभाव है। यह केवल भारत में ही नहीं किन्तु प्रायः सभी राष्ट्रों में प्रकारान्तरों से दृष्टिगत हो रहा है। चरित्र का निर्माण मनुष्य के मन से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार के विचार उसके मन में उत्पन्न होने लगते हैं, धीरे-धीरे वैसे ही उसके संस्कार बन जाते हैं, इसीलिए '**मानसं विद्धि मानवं**' इस ऋषि वाक्य में कहा गया है कि मन ही मनुष्य है। जिन चारित्रिक गुणों को आदर्श के रूप में सम्मुख रखा जाता है और बार-बार उन पर चिन्तन-मनन किया जाता है, कालान्तर में उनका अनुसरण भी सम्भव होने लगता है।

कोई व्यक्ति यदि यह बतला सके कि वह किन व्यक्तियों को अपना आदर्श मानता है तो उसी के आधार पर प्रायः यह भी जान लिया जा सकता है कि वह किस चारित्रिक धरातल पर जी रहा है। सिनेमा अभिनेत्रियों की गतिविधियों पर जागरूकता से ध्यान रखने वाले व्यक्ति का तथा किसी सत्पुरुष की गतिविधियों पर मनन करने वाले व्यक्ति का मानसिक धरातल एक होना सम्भव नहीं है, फिर भी मानवीय सामर्थ्य में एक विशेषता बहुत ही आशाप्रद रही है—वह अपने मानसिक स्तर को सावधान होकर बदल भी सकता है। यह तो सम्भव नहीं है कि सभी व्यक्तियों का मानसिक धरातल एक समान समुन्नत हो जाए और वे सच्चरित्र के धनी हो जाएं, किन्तु उतना ही असम्भव यह भी तो है कि सभी व्यक्तियों का मानसिक धरातल निम्न हो जाए और वे दुश्चरित्र ही बन जाएं। जब तक यह संसार है तब तक चारित्रिक धरातल की यह विषमता विद्यमान रहेगी, परन्तु सच्चरित्रता और दुश्चरित्रता में से जब जिसका प्राबल्य होगा, युग की स्थिति उसी के अनुरूप अच्छी और बुरी होती रहेगी।

देवत्व और पशुत्व

मनुष्य में देवत्व और पशुत्व—ये दोनों ही भाव विद्यमान रहते हैं। किसी युग में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवत्व का प्राबल्य होता है तो किसी में पशुत्व का। इन दोनों में धूप और छाया की तरह शाश्वत संघर्ष चालू रहता है। हर युग के प्रेरक पुरुषों के लिए यह आवश्यक होता है कि मानव जाति के देवत्व का उद्दीपन करे और पशुत्व का शमन। जब-जब देवत्व उभरता है तब-तब समाज अपने गुण गौरव से पारिपार्श्विक वातावरण को सुगन्धित कर देता है, किन्तु जब-जब पशुतत्व उभर आता है तब वही समाज नाना प्रकार के विग्रह और पारस्परिक विद्वेष से वातावरण को इतना दूषित बना देता है कि उसमें सांस लेना भी कठिन हो जाता है।

चरित्र का दौर्भिक्ष्य

समाज का वर्तमान वातावरण इसी ओर इंगित करता है कि इस समय पाशविक वृत्तियों का ही प्राबल्य होता जा रहा है। व्यक्ति अपने साधारण कर्त्तव्यों में भी बहुत असावधान होता चला जा रहा है। अनीतिमय आचरण स्वाभाविक बनता जा रहा है जबकि नीतिमय आचरण असम्भव-सा बन गया है। आज किसी को बेईमानी करते देखकर आश्चर्य नहीं होता किन्तु ईमानदारी करते देखकर आश्चर्य होता है। एक बार एक प्रवासी भाई मुझे बता रहे थे कि मोटर से यात्रा करते समय कानपुर के पास उनकी मोटर के पिछले भाग से बंधी हुई सामान की कोई गठरी गिर गयी और उन्हें उसका कोई पता भी न चला। उसी समय एक स्थानीय तांगेवाले ने उसे गिरते देख लिया था, उसने मोटर के नम्बर भी देख लिये। कानपुर में काफी तलाशने के बाद उसने वह गठरी हमें लौटायी। इस बात को सुनने वाले व्यक्ति ने मेरे पास उस तांगेवाले की ईमानदारी की प्रशंसा की। पास में बैठे हुए एक व्यक्ति ने तो आश्चर्याभिभूत होते हुए यहां तक कहा कि क्या कोई ऐसा व्यक्ति भी मिल सकता है? उसके कथन से मुझे लगा कि वर्तमान में बेईमानी का काम स्वाभाविक बन चुका है। जब कोई ईमानदारी का काम करता है तभी लोगों को आश्चर्य होता है मानो अनहोनी बात कर दी हो। जनता के इस दृष्टिकोण से पता लगता है कि समाज में सच्चरित्र का कितना बड़ा दौर्भिक्ष्य है और देव तत्त्व पर पशु तत्त्व कितना हावी हो रहा है?

सत्य के प्रति निष्ठा

चारित्रिक पतन के मुख्य कारण हैं—सत्य और अहिंसा के प्रति निष्ठा का अभाव। सत्य के प्रति निष्ठा न रहने से मनुष्य में अपने आपकी हर वृत्ति को छिपाकर रखने की भावना पैदा होती है। सचाई को वस्तुतः आवरण की आवश्यकता नहीं होती; वह तो झूठ को ही होती है। खुले मुंह यदि वह सामने आ जाय तो उसे पहचान लिये जाने का सन्देह रहता है। इसीलिए वह आवरण या मुखावगुंठन के बिना बाहर नहीं आ सकती। यही कारण है कि छटपट व्यापार करने वालों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकर विश्व संस्था तक में एक-दूसरे से अपने मनोभावों को छिपाने की वृत्ति चल रही है। बहुधा असत्य को सत्य का बाना पहनाकर उपस्थित करने की दक्षता में ही शक्ति का अपव्यय किया जा रहा है। मानो सत्य को ढक देना ही सबका लक्ष्य बना हुआ हो ! सत्य जो कि हर प्रकार की नीति का प्राणभूत तत्त्व है, आज राजनीति से तो एक प्रकार से बहिष्कृत ही कर दिया गया है। पर समाज नीति में भी उसके महत्त्व को समाप्त किया जा रहा है। तब फिर ऐसी प्राणहीन नीतियों से जो हल खोजे जा रहे हैं, वे सप्राण कहां तक हो सकते हैं ? उनमें सत्यता की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा हो, यह आवश्यक है, अन्यथा जीवन के हर क्षेत्र में केवल दिखावा ही दिखावा रह जाएगा, वास्तविकता खोजने पर भी मिलनी कठिन हो जाएगी।

अहिंसा के प्रति निष्ठा

इसी प्रकार अहिंसा के प्रति निष्ठा नहीं रहने से भय की वृत्ति उत्पन्न होती है, जो कि पारिवारिक जीवन से लेकर राजनीतिक जीवन तक में पारस्परिक अविश्वास पैदा कर देती है। मनुष्य किसी भी समस्या को उसके न्याय या अन्याय होने की दृष्टि से न देखकर उसी दृष्टि से देखता है जिसमें कि वह अपने पक्ष का समर्थन और विपक्ष का खण्डन कर सके। जब भय की भावना तीव्र हो जाती है तब वह हिंसा का रूप भी ले लेती है। उसमें एक-दूसरे को समझाने के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। वैसी स्थिति में हर समस्या को सुलझाने का एक ही तरीका माना जाने लगा है कि अपने विपक्ष को समाप्त ही कर दिया जाए। पर उससे समस्या सुलझने के स्थान पर अधिक ही उलझती देखी जाती है। व्यक्ति विशेष को समाप्त कर देने से वे विचार समाप्त नहीं हो जाते, जिनका कि वह प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु तात्कालिक हल के प्रलोभन में बहुधा ऐसा किया जाता रहा है। राजनीति में तो इस प्रकार की हत्याएं यत्र-तत्र होती रहती हैं। लगता है कि मनुष्य अभी तक अपनी प्राचीन बर्बरता को भूल नहीं पाया है।

सत्य और अहिंसा का विश्वास

सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में वैयक्तिक तथा सामूहिक हिंसा का प्रयोग मनुष्य जाति की प्रारम्भ, कालीन स्थितियों से लेकर आज तक अबाध गति से चलता रहा है, पर उसकी असफलता इसीसे सिद्ध है कि उसने सदैव पारस्परिक घृणा को बढ़ावा देकर और अधिक हिंसा के ही बीज बोये हैं। मानव मानव की मानसिक दूरी को पाटने के स्थान पर उसने सदैव उसमें वृद्धि ही की है। आश्चर्य तो इस बात का है कि फिर भी अभी तक अहिंसा के प्रति मनुष्य के मन में जो विश्वास और श्रद्धा भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए था, वह भी नहीं हुआ है। अब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी उसे अक्षम और अकिंचित्कर मानकर उपेक्षित किया जा रहा है। लोगों के मानसिक धरातल पर जमे हुए उसके पैरों को डगमगा देने के लिए उसे 'कायरता' तक की संज्ञा से विभूषित किया जा रहा है।

चारित्रिक उत्थान का स्वप्न देखने वाले व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक है कि वे हर व्यक्ति में सत्य और अहिंसा का विश्वास जागृत करें। कुछ मानवीय कमजोरियों के कारण आज जो यह भावना बल पकड़ती जा रही है कि शान्ति युग में ही सत्य और अहिंसा कारगर हो सकती है, अन्यत्र नहीं, उसे हटाया जाए। जनता के समक्ष प्रयोगात्मक ढंग से ऐसे उदाहरण पेश किये जाएं कि जो आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, किन्तु राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में भी पूर्ण रूप से समस्या का समाधान उपस्थित कर सकते हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रगति के सोपान

अस्तित्व की पृथकता

मैं जहां ठहरा हुआ हूं, उस मकान की दाहिनी भींत से सटे हुए दो वृक्ष खड़े हैं, जो कि उस दुमंजिले मकान की छत पर झुक-झुक आये हैं। सहस्रों-सहस्रों पत्तियों से भरी उनकी शाखाएं हवा में यों झूमती हैं, मानो किसी के लिए पंखा झल रही हों। मैं उन्हें देखता हूं और मन-ही-मन आश्चर्य से भर जाता हूं कि प्रकृति ने कितने करीने से उन सब पत्तियों को समझाकर यथास्थान लगाया है। मैं कई बार उनके समीप चला जाता हूं और ध्यान से देखता हूं, तो लगता है कि जो पत्तियां दूर से बिलकुल समान दिखाई देती हैं, वे वस्तुतः समान नहीं हैं। खोज की दृष्टि से देखने, सोचने और समझने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि प्रकृति के विशाल राज्य में किन्हीं दो पत्तियों की पूर्ण समानता असम्भव है। समानता के विशाल नीलाकाश में भी असमानता—विशेषता के असंख्य तारक यत्र-तत्र चमकते हुए अपने पृथक् अस्तित्व की घोषणा करते दृष्टिगत हो ही जाएंगे। केवल पत्तियों के लिए ही क्यों, प्रकृति की हर वस्तु के लिए यही सिद्धान्त अविकल रूप से लागू होता है।

सूक्ष्म निरीक्षण : निष्कर्ष

कई वर्ष पूर्व मैंने युगल-जन्मा भाइयों में से एक को देखा था। परिचय हुआ तो निकटता भी आयी। पचासों बार वह मेरे पास आया होगा। कुछ दिनों तक मैं उसके मकान पर भी ठहरा था, लेकिन अगले ही वर्ष जब उसके दूसरे भाई को देखा तो मुझे उसी का भ्रम हो गया। एक बार नहीं, अनेक बार दोनों के अन्तर को पहचानने में मैंने भूल की। आखिर दोनों को एक साथ देखकर पार्थक्य खोजने का प्रयास किया, तो लगा कि दोनों की आकृतियों में काफी समानता के साथ-साथ काफी असामनता भी है। इतने दिनों तक मेरी आंखों ने जो कुछ देखा था, वह मात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन दोनों की आकृतियों का स्थूल निरीक्षण था, अतः भेदक रेखाएं पकड़ में नहीं आ पायीं। सूक्ष्म-निरीक्षण करने पर ही उनका पता चल पाया।

भिन्न हैं उपादान और निमित्त

सारांश यह है कि पत्तियों से लेकर मनुष्यों तक में एक ऐसी स्वभावगत पारस्परिक भिन्नता व्याप्त है कि जिसे न मिटाया ही जा सकता है और न नकारा ही जा सकता है। यह भिन्नता निष्कारण नहीं होती। प्रत्येक का अपना भिन्न उपादान होता है और भिन्न निमित्त, तो फिर क्षमताएं भी भिन्न ही होंगी। काल, क्षेत्र और प्रयोग आदि उस भिन्नता में अतिरिक्त वृद्धि कर देते हैं। इस प्रकार किन्हीं दो के पूर्णतः एक जैसे होने की सम्भावना ही नहीं रह जाती। मेरे जैसा केवल मैं ही होऊंगा और तुम्हारे जैसे केवल तुम ही। तुम्हारी विशिष्ट योग्यताएं मेरे में और मेरी विशिष्ट योग्यताएं तुम्हारे में पनप नहीं पायेंगी। ऐसी स्थिति में दूसरों की विशेषताओं या क्षमताओं के प्रति ईर्ष्या या डाह करने जैसी स्थिति नहीं रह जाती है। फिर भी यदि क्वचित् ईर्ष्या आदि की भावना पनपती है तो कहना चाहिए कि वह मनुष्य का व्यामोह ही है। उससे उक्त क्षमताओं के विकास का कोई सम्बन्ध नहीं है। ईर्ष्या करने से तो यह अधिक स्वस्थ मार्ग होगा कि व्यक्ति स्वयं अपने में उस क्षमता के बीज को टटोले और फिर उसे विकसित करने में लग जाए।

क्षमताओं की पहचान

प्रगति का प्रथम सोपान अपनी क्षमताओं को पहचानना है तो दूसरा उसके विकासार्थ पूर्ण मनोयोग से जुट जाना। दूसरों के अनुकरण का उसमें तनिक भी स्थान नहीं हो सकता। अनुकरण तो एक ऐसा भटकाव है, जो मनुष्य के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास को रोकता है। उससे उसकी दृष्टि स्वयं अपने पर से भटककर दूसरे पर रहने की अभ्यस्त हो जाती है। फिर उसके लिए मैं क्या कर सकता हूं, यह आत्म-प्रश्न गौण हो जाता है और 'वह क्या करता है' यह मुख्य। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती, उसके बाद कैसे करता है, कब करता है, कितना करता है, आदि अनेक बातों के लिए भी वह दूसरे पर ही निर्भर हो जाता है। ऐसा करते समय वह यह भूल जाता है कि स्वतंत्र-चिन्तन की अपनी कामधेनु को वह स्वयं ही दूसरे के खूंटे पर बांध रहा है। फल यह होता है कि दूसरे जैसा वह बन नहीं सकता और जैसा बन सकता है, वैसे सामर्थ्य का उपयोग नहीं कर पाता।

व्यक्ति स्वयं है अपना सहायक

तुम क्या बन सकते हो—वह स्वयं तुम्हें खोजना है और फिर पूर्ण निर्णय के साथ अपनी पूर्ण शक्ति को उसी में लगा देना है। इस कार्य में यदि कोई सर्वोत्कृष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहायक हो सकता है, तो वह तुम्हीं हो सकते हो, अन्य कोई नहीं। एक बार चारों ओर से हताश हुए एक व्यक्ति ने एक मनोवैज्ञानिक से सहायता मांगी। मनोवैज्ञानिक ने उसकी सारी स्थिति का अध्ययन करने के पश्चात् कहा—'तुम्हारी पूरी बात सुनने और उस पर विचार करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि मैं तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता परन्तु मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानता हूं, जो निश्चित ही तुम्हारी सहायता कर सकता है और वह उसे दूसरे कमरे में ले गया। वहां एक आदमकद दर्पण पर से पर्दा उठाकर उसी का प्रतिबिम्ब दिखलाते हुए मनोवैज्ञानिक ने कहा—'यही वह आदमी है, जो तुम्हारी सहायता कर सकता है। संसार भर में इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर सकता।'

वह व्यक्ति एक क्षण के लिए उस प्रतिबिम्ब को देखता रहा और फिर चुपचाप चला गया। कालान्तर में वही व्यक्ति एक सुप्रसिद्ध व्यापारिक संस्थान का अध्यक्ष बना। उस व्यक्ति को विनाश के द्वार से खींचकर सफलता के उच्चासन पर ला बिठाने वाला अन्य कोई नहीं, अपनी शक्ति का ज्ञान और तदनुकूल प्रवर्तन ही था।

बिना सोचे-समझे सिर झुकाकर दूसरे के पीछे चल पड़ना भेड़-बकरियों का काम है। सिंह ऐसा कभी नहीं करता। यदि मनुष्य भेड़-बकरियों की श्रेणी में नहीं जाना चाहता, तो उसके लिए वह परम आवश्यक है कि वह अपने सिंहत्व को समझे, अपनी क्षमताओं तथा विशेषताओं को पहचाने और फिर उनके निखार में पूर्ण निष्ठा से लगे। प्रगति के इन्हीं सोपानों पर चरण रखते हुए ऊपर उठा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्य और उसका विश्वास

श्वास : विश्वास

विश्वास मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि श्वास। श्वास के अभाव में देह-धारण सम्भव नहीं होता, तो विश्वास के बिना जीवन-धारण। विश्वास का उद्‌गम आत्मा में होता है, अतः उसे एक अभौतिक शक्ति कहा जा सकता है। ऐसी शक्ति, जो दुष्प्राप्य तो अवश्य है, परन्तु अप्राप्य बिलकुल नहीं। मूल बात यह है कि वह आत्मा की ही एक प्रसुप्त शक्ति है। उसे जगा लेना ही उसे उत्पन्न कर लेना या प्राप्त कर लेना है। जिसने उस शक्ति को जगा लिया, उसके लिए फिर असाध्य कुछ भी नहीं रह जाता। हमारे विश्वास की कमी का ही दूसरा नाम असाध्यता है। हमारी चेतना में अभी तक अनेकानेक अंध-कक्ष इसलिए विद्यमान हैं, क्योंकि हमारे विश्वास का प्रकाश वहां तक पहुंच नहीं पाया है।

विश्वास स्वयं पर

विश्वास का तात्पर्य अपने आप पर विश्वास—आत्म-विश्वास से है। दूसरे पर किया जाने वाला विश्वास तो उसी का विस्तार मात्र होता है। आत्म-विश्वास के वृक्ष का मूल हृदय में गहरा जमा हुआ हो तभी उसकी शाखाएं दूर-दूर तक फैल सकती हैं। मूल के अभाव में शाखाओं के विस्तार की कल्पना की ही नहीं जा सकती। अपने पर जिसका विश्वास नहीं होता, वह निश्चित ही किसी अन्य पर विश्वास करने में झिझकेगा। अपने पर का अविश्वास ही वस्तुतः दूसरों का अविश्वास बन जाया करता है।

शक्ति है विश्वास में

मनुष्य में सामर्थ्य की कमी नहीं है, परन्तु सामर्थ्य के विश्वास की कमी है। वह स्वयं को असमर्थ, प्रतिभाहीन और विफल तो बिना ही किसी झिझक के मान सकता है, परन्तु असीम सामर्थ्य, ज्ञान और आनन्द का स्वामी अनुभव करते उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़ा संकोच होता है। वस्तुतः अनन्त सामर्थ्य की अनुभूति के लिए अनन्त विश्वास की भी अपरिहार्य आवश्यकता होती है। सामर्थ्य और उसके विश्वास की सममात्रा प्रायः उपलब्ध नहीं होती, इसीलिए व्यक्ति के सामर्थ्य का काफी महत्त्वपूर्ण अंश निष्फल चला जाता है। समयोग्यता वाले दो व्यक्तियों में भी आत्म-विश्वास की तरतमता के कारण ही इतना बड़ा अन्तर हो जाता है कि एक बहुत कुछ कर सकता है, दूसरा कुछ भी नहीं। वस्तुतः शक्ति के विश्वास में ही शक्ति निहित होती है। उसके अभाव में सबसे सबल व्यक्ति भी सबसे निर्बल रह जाता है।

क्षोभ और अविश्वास की परिणति

महारथी कर्ण अर्जुन से किसी प्रकार कम नहीं था, परन्तु स्वयं उसी के सारथी शल्य ने रण-क्षेत्र में लगातार उसके आत्म-विश्वास को घटाने का प्रयास किया। उसने कहा कि अर्जुन एक महान् योद्धा है। तुम उसकी बराबरी कभी नहीं कर सकते, तुम उसे किसी भी प्रकार से जीत नहीं सकते। बार-बार दुहराये गये उक्त वाक्यों से कर्ण मानसिक स्तर पर टूट गया। उस स्थिति में न केवल उसके रथ का चक्र ही धंस गया, अपितु उसके मन का चक्र भी क्षोभ और अविश्वास के कीचड़ में धंस गया। न वह अपने रथ का उद्धार कर पाया और न मन का। असमंजसता की उसी अवस्था में अर्जुन के बाणों ने उसे वहीं ढेर कर दिया।

आत्मविश्वास की फलश्रुति

इसके विपरीत हमने अपने युग में देखा है कि महात्मा गांधी ने जब निरस्त्र भारतीयों के आत्मविश्वास को जगाया तो दुनिया का सबसे बड़ा ब्रिटिश-साम्राज्य सशस्त्र सेनाओं की विद्यमानता में भी भू-लुंठित हो गया। अहिंसा द्वारा हिंसक-शक्ति को पराजित करने का आत्म-विश्वास जहां भारत को स्वतंत्र करा गया, वहां संसार के सम्मुख एक नया मार्ग-दर्शन भी प्रस्तुत कर गया। यद्यपि पहले-पहल उस आत्मविश्वास को एक पागलपन ही समझा गया था, परन्तु उसकी कार्य-परिणति ने अनेक सम्भावनाओं के द्वार खोल दिये।

आत्मविश्वास की कमी : परिणाम

असफलता, पराजय, अपूर्णता आदि आत्मविश्वास की कमी के ही विभिन्न परिणाम हैं। यदि उसकी परिपूर्ण खुराक व्यक्ति को मिलती रहे, तो भावना की कोई कली फूल बनकर सुरभि बिखेरने से पूर्व कभी मुरझा नहीं सकती। आत्मविश्वास को एक प्रकार का संजीवन रस ही मानना चाहिए। उसके कुछ बिंदु भी भावना के स्तर पर मृत व्यक्ति को जीवित कर देते हैं। इसी प्रकार से उसका अभाव जीवित को भी मृत बना डालता है। आत्म-हत्या करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का आत्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वास ही समाप्त हो चुका होता है, अन्यथा कोई स्वयं मरना कैसे चाह सकता है ?

पूर्ण निर्णय : पूर्ण विश्वास

मनुष्य के आत्मविश्वास में घटाव-बढ़ाव आता रहता है, इसीलिए उसकी कार्य-शक्ति तथा सफलता में भी घटाव-बढ़ाव आता रहता है। पूर्ण आत्म-विश्वास से ऐसी सर्जन-शक्ति का उदय होता है, जो कभी किसी कार्य को अपूर्ण नहीं रहने देती। हम क्या हैं—इस चिन्तन में अधिक शक्ति खपाने की आवश्यकता नहीं, किन्तु हमें क्या बनना है—यह निर्णय कर पूर्ण विश्वास के साथ उसी ओर बढ़ने में सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिए। अधूरा निर्णय अनिर्णय की कोटि में आता है और अधूरा विश्वास अविश्वास की कोटि में। इसलिए पूर्ण निर्णय और पूर्ण विश्वास ही सिद्धि-दायक हो सकता है।

हर सामर्थ्य और सामर्थ्य के हर विश्वास के साथ उच्च आदर्श का योग होना आवश्यक है, अन्यथा मानवीय दुर्बलताओं के कारण व्यक्ति उनका विनाश कार्यों में भी प्रयोग कर सकता है, परन्तु वह प्रयोक्ता का ही दोष माना जाएगा, सामर्थ्य और उसके विश्वास का नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राण : एक व्यावहारिक विश्लेषण

तीन अनिवार्यताएं

बहुत समय पहले मैंने एक दोहा सुना था—

मोहन पास गरीब के, को आवत को जात ।
एक बिचारो सांस है, आत-जात दिन रात ॥

गरीब के पास और तो कोई नहीं आता-जाता, बस एक बेचारा सांस ही है, जो नियमित रूप से आता-जाता रहता है। यहां सांस को बेचारा कहा गया है। साधारण लोग इसे बेचारा ही समझते हैं। इसीलिए इसका कभी कोई मूल्यांकन भी नहीं किया जाता। इसे बेचारा समझना एक भूल है। यह तो हमारे शरीर-धारण का प्रमुख आधार है, इसे समझना बहुत आवश्यक है।

हमारा यह शरीर साधना का मूल आधार है, क्योंकि हमारी समस्त क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का वाहक यही है। इस शरीर को अस्तित्व में रखने के लिए तीन वस्तुएं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, उन्हें अनिवार्य एवं अपरिहार्य कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी, वे हैं—भोजन, जल और श्वास।

श्वास : अस्तित्व का द्योतक

भोजन बहुत स्थूल वस्तु है। उसके बिना व्यक्ति अनेक महीनों का लम्बा समय निकाल सकता है। इसी प्रकार भोजन के साथ-साथ जल का भी परित्याग करके अनेक दिन निकाले जा सकते हैं। तेरापंथ धर्मसंघ की एक सदस्या साध्वीश्री जेठांजी ने अन्न-जल ग्रहण किये बिना बाईस दिन निकाल दिए थे। सन् १९९० में साध्वी गुलाबांजी ने अन्न-जल त्याग का २८ दिनों का कीर्तिमान स्थापित किया। परन्तु श्वास के बिना तो व्यक्ति अपने शरीर को इतने मिनट भी कायम नहीं रख सकता। श्वास हमारे जीवन के अस्तित्व का द्योतक है। जब व्यक्ति मरण शैया पर होता है तब उसके नाक के सामने रूई का पतला-सा फाहा रखा जाता है, ताकि यह जाना जा सके कि व्यक्ति जीवित है या मृत। यदि जरा-सी भी श्वास की क्रिया चल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रही होती है, तो यह निश्चय करने में विलम्ब नहीं होता कि व्यक्ति जीवित है। इसीलिए कहा जा सकता है कि श्वास का अस्तित्व ही जीवन के अस्तित्व की प्रथम घोषणा है और उसका अभाव मृत्यु की। जो श्वास प्रति समय साथी बनकर मनुष्य के पास रहता है, उसके विषय में उसका अज्ञान भी उतना ही गहन है। व्यक्ति प्रायः कभी ध्यान ही नहीं देता कि श्वास आ रहा है या जा रहा है? लम्बा आ रहा है या छोटा, जल्दी आ रहा है या धीरे-धीरे। इस विषय में इतना औदासीन्य क्यों है, कह पाना कठिन है। शायद नीतिकारों का उक्त कथन कुछ समाधान प्रदान कर सकता है—"अति परिचय हो जाने पर किसके सम्मान में ह्रास नहीं हो जाता?"

व्यक्ति ने कभी यह जानने का प्रयास ही नहीं किया कि हमारे शरीर में श्वास के द्वारा कौन-कौन से स्थान प्रभावित होते हैं। उसकी क्या कार्य-विधि है और श्वास-प्रश्वास कैसे एवं कितना लेना-छोड़ना चाहिए,। मानो इन सारी जिज्ञासाओं को या तो अनुत्थानोग्रहत कर दिया गया हो या फिर अज्ञानान्धकार में विलीन कर दिया गया हो।

पहला श्वास

जब तक बालक मां के गर्भ में होता है तब तक उसका जीवन मां के श्वास-प्रश्वास से ही चलता रहता है। मां का श्वास ही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहता है। गर्भ में उसके शरीर के अवयव धीरे-धीरे परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त होते हैं। बालक ज्यों ही गर्भ से बाहर आता है, उसके साथ एक विचित्र घटना घटती है कि अब उसको अपने ही बल पर जीना प्रारम्भ करना होता है। श्वास सम्बन्धी प्रक्रिया चालू हो जाती है, उसके फेफड़े संकोच-विकोच करने लगते हैं। फलस्वरूप शिशु में नवस्थिति जनित-भय पैदा होता है और वह रोने लग जाता है। प्रारम्भावस्था में बालक के पास सुख-दुःख एवं भय आदि जनित अपनी सभी स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए एक मात्र रुदन ही साधन होता है। अपने प्रथम रुदन के द्वारा बालक अपने अवतरण एवं जीवित सत्ता की सूचना सबको देता है।

श्वास-निःश्वास की प्रक्रिया

श्वास प्राणियों के जीवन का एक सबल आधार है, वह उससे वायु के रूप में प्राण ग्रहण करता है। यों तो वायु ग्रहण के लिए मनुष्य के पास अनेक साधन हैं। शरीर-स्थित हर रोम वायु ग्रहण करता है। यदि रोम कूप अनावृत न हों एवं वायु का प्रवेश अवरुद्ध हो जाए तो त्वचा रुग्ण तथा विकृत हो जाती है। दूसरा स्थान मुख है। अनेक व्यक्ति अज्ञानवश या स्वभाववश श्वास-ग्रहण में मुख का प्रयोग करते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु वह ठीक नहीं होता क्योंकि प्रकृति द्वारा मुख का निर्माण भोजन चबाने, रसानुभूति करने तथा बोलने के उपयुक्त ही किया गया है। श्वास-ग्रहण करने का उपयुक्त अवयव तो नाक ही है। उसकी लम्बी नलिका में से गुजरती हुई ग्रीष्म-कालीन गरम हवा तथा शीतकालीन ठण्डी हवा आवश्यकता के अनुसार समतापीय हो जाती है। इससे जब श्वास फुफ्फुस (फेफड़ों) तक पहुंचता है तो वह रूक्ष न होकर स्निग्ध बन जाता है। नासारन्ध्रों के प्रारम्भिक भाग में छोटे केशों का एक जंगल उगा होता है। प्रकृति के वन-विभाग ने बाहर के रेगिस्तान को अन्दर घुसने से रोकने के लिए इसे लगाया है। यह वायु को छानता है। श्वास लेते समय वायु के साथ आने वाले रजकणों को आगे बढ़ने से रोकता है। इस जंगल से आगे जो समतल भाग आता है, वह श्लेष्म की चिकनी पर्त से गीला रहता है। केशों के जंगल से बचकर जो रजकण या कीटाणु आगे बढ़ते हैं, वे यहां चिपक कर रह जाते हैं। इस प्रकार नासारंध्र से आगे बढ़ती हुई वायु कंठ, टेंटुआ और स्वर-यंत्र को लांघकर श्वास नलिका के माध्यम से फुफ्फुस में पहुंचती है। ये फुफ्फुस (फेफड़े) हंसली की हड्डी के पीछे नीचे की ओर फैले हुए होते हैं। ये दो होते हैं। स्पंज की तरह इनमें संकोच-विकोच की स्वाभाविक क्षमता होती है। इनमें सोलह करोड़ से लेकर अठारह करोड़ तक प्रकोष्ठ (कोटर) बने हुए होते हैं। श्वास के द्वारा अन्दर खींची गयी वायु इन प्रकोष्ठों में फैल जाती है। वहां की सूक्ष्म आंतरिक प्रक्रिया के द्वारा वायु का वह अंश, जिसे प्राण वायु (ऑक्सीजन) कहते हैं, सोख लिया जाता है। गृहीत प्राण वायु शरीर में व्याप्त होकर नस-नाड़ियों के माध्यम से विभिन्न अवयवों में कार्यरत हो जाती है, शेष वायु कार्बनडाइआक्साइड के रूप में दूषित एवं अनावश्यक कणों के साथ बाहर फेंक दी जाती है।

श्वास की मात्रा

व्यक्ति इतना कम श्वास लेता है कि फेफड़े के पूरे प्रकोष्ठ कभी शायद ही भर पाते हों। उनकी क्षमता प्रायः छह लीटर तक वायु ग्रहण करने की होती है पर व्यक्ति बहुधा एक या दो लीटर से आगे नहीं बढ़ता। इसलिए प्राणायाम का अभ्यास करने वालों को सिखाया जाता है कि वे श्वास लम्बा लें। प्रलम्ब श्वास-विधि को अपना लेने के बाद व्यक्ति यह अनुभव करता है कि जितना श्वास वह पहले लेता था अब उससे तीन-चार गुना अधिक ग्रहण कर रहा है। अधिक प्राण वायु ग्रहण करने से उसकी प्राण-शक्ति बढ़ जाती है। फलतः इन्द्रियां तेजस्वी हो जाती हैं। आकृति पर अधिक ओज, शरीर में अधिक स्फूर्ति और बल का अनुभव होने लगता है। कार्य-शक्ति भी वृद्धिगत हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वास के प्रकार

योग की भाषा में श्वास के तीन प्रकार हैं—

१. पूरक
२. रेचक
३. कुम्भक

पूरक अर्थात् वायु को अन्दर खींचना, रेचक अर्थात् प्रश्वास के रूप में वायु को बाहर फेंकना, कुम्भक का अर्थ है—श्वास का संयम करना।

प्राण-शक्ति का उपयोग

वायु के अनेक नामों में एक है—महाबल। वस्तुतः वायु के बल का अनुमान लगा पाना कठिन है। भीम को वायु-पुत्र कहा जाता था। उनका शारीरिक बल अपार था, दूसरे व्यक्ति जिस वस्तु को हिला भी नहीं सकते थे, भीम उसे उठाकर दूर फेंकने की शक्ति रखते थे। व्यक्ति किसी भारी वस्तु को उठाता है तब पहले सहज ही अपने में पूरा श्वास भरता है। कुम्भक अवस्था में ही भार उठाना उसके लिए सरल होता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं—'**बल-प्रकर्षः पवनेन वर्ण्यते**' अर्थात् बल-प्रकर्षता की तुलना वायु से की जाती है। वायु-ग्रहण से अर्जित शक्ति के आधार पर व्यक्ति छाती पर हाथी को खड़ा करवा सकता है। छाती पर रखी शिला को हथौड़ों से तुड़वा सकता है। कार से बंधा रस्सा पकड़कर पूरे वेग से दौड़ाए जाने पर भी उसे एक इंच भी आगे सरकने से रोक सकता है। ये सब चमत्कार कुछ ही दशक पूर्व प्रो० राममूर्ति दिखला चुके हैं। ये सब प्राणायाम द्वारा प्राप्त शक्ति के स्थूल एवं भौतिक चमत्कार हैं। यही शक्ति जब आध्यात्मिकता के साथ जुड़ती है तभी वास्तविक साधना का क्रम प्रारम्भ होता है। प्राण-शक्ति के जागरण का यही उपयोग वांछनीय है। उसे चमत्कारों तथा प्रदर्शनों में खपाना उसका दुरुपयोग है। वह तो करने वाले पर निर्भर है कि अपनी अर्जित शक्ति का उपयोग किस प्रकार से करे। देश की स्वतन्त्रता से पूर्व की घटना है। कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन था। किसी विषय पर नेताओं में मतभेद था। बहस चली, गरमा-गरमी हुई और फिर हाथापाई की नौबत आ गयी। एक-दूसरे पर प्रहार करने में जूतों और कुर्सियों का प्रयोग तो हुआ ही, यहां तक कि सूत कातने के काम आने वाली तकली भी प्रहार का साधन बन गयी। इसके विपरीत गोबर एवं कूड़े-करकट आदि से जो खाद बनायी जाती है, वह मलिन पदार्थों का सदुपयोग है।

आवश्यक है मार्गदर्शन

प्रकृति प्रदत्त प्राण-शक्ति का सदुपयोग यही है कि उसे नियंत्रित और लयबद्धता से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवलित करते हुए पूर्ण जागरूकता रखें और ऊर्जा को ऊर्ध्वता की ओर ले जाएं। इसी से चेतना का ऊर्ध्वीकरण होता है। चेतना का ऊर्ध्वीकरण ही आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड है।

मूर्च्छित या सुप्त चेतना को सावधान या जागृत करने के लिए ही प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक है। सामान्य रूप से तो यह अभ्यास स्वतः ही किया जा सकता है, पर विशेष अभ्यास के लिए किसी योग्य व्यक्ति के मार्ग-दर्शन में ही किया जाना लाभदायक है, क्योंकि अविधि से किए जाने पर कई प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक क्षतियों की भी सम्भावना रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिक शान्ति और धारणाओं का रंग

शान्ति क्या है ?

शान्ति मनुष्य के लिए काम्य है। अशान्ति आग के समान होती है। वह दूर-दूर तक के वातावरण को उत्तप्त बना डालती है। उत्तप्त वातावरण में रहकर कभी कोई शीतल या शान्त कैसे रह सकता है ? भगवान् महावीर ने कहा है—**'संति मग्गं ब बूहए'** अर्थात् 'शान्ति के मार्ग की उपबृंहणा करो'। प्रश्न किया जा सकता है कि शान्ति क्या है और उसकी उपबृंहणा कैसे की जा सकती है ? उत्तर है—उद्विग्नता-हीन मानसिक स्थिति का नाम शान्ति है, उसकी उपबृंहणा हम अपने मन की धारणाओं को बदल कर या उसे सुस्थिर बनाकर कर सकते हैं।

अशान्ति वास्तव में नहीं होती है तो भी अपनी अज्ञानता के कारण हम उसे मान लेते हैं और तब सारा जीवन अशान्त हो जाता है।

धारणाओं का रंग

जब-जब उद्वेग की हवा चलती है, तब-तब हमारे मन का सरोवर आन्दोलित और उद्वेलित हो उठता है। उद्वेग हमारी धारणाओं का आधार पाकर पनपता है। कोई भी घटना या स्थिति हमारी धारणाओं के अनुरूप ही हमारे मन पर प्रभाव छोड़ती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि हमारी प्रायः सभी अनुभूतियां हमारी धारणाओं के रंग में रंगी होती हैं। फलतः हमें अनुभूति का सत्य नहीं, किन्तु धारणा का सत्य प्राप्त होता है, जो कि बहुधा असत्य ही होता है। अग्रोक्त घटना के प्रकाश में इसे सुस्पष्ट समझा जा सकता है। दो यात्री रेल के एक डिब्बे में बैठकर यात्रा कर रहे थे। एक खिड़की के निकट बैठा था तो दूसरा उससे कुछ दूर डिब्बे के बीच में। गाड़ी ने रफ्तार पकड़ी तो बीच वाले व्यक्ति ने उठकर खिड़की को बन्द कर दिया। किनारे वाला व्यक्ति दो मिनट तो चुप रहा। फिर उसने खटाक से खिड़की को खोल दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीच वाले व्यक्ति ने उसे रोकते हुए कहा—'क्या कर रहे हो ? हवा के ठंढे झोंके मुझे परेशान कर रहे हैं। खिड़की को बन्द कर दो।'

किनारे वाला युवक तुनककर बोला—'खिड़की को खुला रखना होगा, बन्द होने पर मेरा दम घुटता है।'

उस व्यक्ति ने उसके कथन पर कोई ध्यान नहीं दिया और उठकर पुनः खिड़की को बन्द कर दिया। वह बैठ भी नहीं पाया था कि किनारे वाले ने उसे पुनः खोल दिया। यों एक व्यक्ति खिड़की को बन्द करता रहा और दूसरा उसे पुनः खोलता रहा। झगड़ा चलता रहा। कई स्टेशन पार हो चुकने पर जब उस डिब्बे में टी० टी० आया, तब दोनों ने ही शिकायत की। टी० टी० खिड़की की वास्तविकता को जानता था। वह मुस्कराया और बोला—'आप व्यर्थ में झगड़ रहे हैं। पहले खिड़की को तो अच्छी तरह से देख लीजिए।' खिड़की को देखा तो पता चला कि उसमें कांच है ही नहीं। दोनों को अपनी धारणा की ही ठंड या गरमी लग रही थी। पूर्व धारणा का रंग उड़ते ही वास्तविकता का भान हुआ और वे अपने स्थान पर शान्ति से बैठ गये। वे पहले भी शान्ति से बैठ सकते थे, परन्तु दोनों की एक-एक धारणा थी और तज्जन्य उद्वेग था, जो कि मन के सरोवर में अशान्ति का विष घोले जा रहा था। लड़ाई उसी विष का परिणाम थी।

उत्तम रंग

हमने अपनी अनुभूतियों के लिए एक प्रकार से सीमाएं निर्धारित कर दी हैं, अतः उनसे बाहर जाकर सोचने एवं समझने की बात बड़ी अटपटी लगने लगी है। धारणाओं के रंग में रंगे बिना घटनाएं या स्थितियां रंगहीन, दूसरे शब्दों में कहें तो आनन्द-हीन अनुभव होने लगती हैं। परन्तु यह भी तो एक धारणा ही है। यदि हम हर अनुभूति को अपनी धारणा के रंग में ही देखना चाहते हैं तो उसे काले या कुत्सित रंग में ही क्यों रंगे, दूसरे रंग भी तो बहुत हैं, जो उत्तम और सुन्दर होते हैं। यदि हम अपनी धारणा की दिशा को बदल दें तो हमें दूसरे ही प्रकार की अनुभूतियां होने लगेंगी। वे हमें गिरने से तो बचायेंगी ही, ऊपर भी उठायेंगी।

ठोकर लगने पर हमें प्रायः दुःखानुभूति होती है, गाली सुनकर क्रोध आता है, मन के विपरीत कार्य होने पर क्षोभ होता है। कारण स्पष्ट है। यह सब मन की पूर्व निर्धारित धारणाओं के आधार पर ही होता है। यदि हम चाहें तो ऐसी अनुभूतियों को दूसरा रंग भी दे सकते हैं। हम सोच सकते हैं कि अच्छा हुआ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठोकर में ही बच गये, इससे अधिक भी बहुत कुछ हो सकता था। यह तर्क हम अपने प्रत्येक अभाव और अलाभ के प्रति भी दे सकते हैं। हमें तब अनुभव होगा कि कष्ट की जहां असीमित सम्भावनाएं हैं, वहां हमें सीमित मात्रा में ही मिला। सापेक्ष सम्भावना-जन्य यह अनुभूति हमारे लिए दुःखानुभूति न होकर सुखानुभूति होती है और रक्षा-कवच बनकर टूटने से बचा लेती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना दर्शन, अपने द्वारा

पर-दर्शन की वृत्ति

मनुष्य के पास आंखें हैं, परन्तु स्वभावतः ही वे अन्य वस्तुओं को तो देख पाती हैं, किन्तु अपने आपको नहीं देख पातीं। आंखों के स्वामी स्वयं मनुष्य का स्वभाव भी ऐसा ही है। आंखें सम्भवतः उसी के स्वभाव का प्रतिनिधित्व करती हैं। मनुष्य अपने अतिरिक्त अन्य सभी को जानने में जितनी रुचि रखता है, उससे शतांश भी अपने को जानने में नहीं रखता। अपनी ओर झांकने में सम्भवतः उसे भय लगता है। अपनी सम्भावित विरूपता और नग्नता ही उस भय का कारण हो सकती है। अपनी इस निर्बलता को ढांकने के लिए ही वह प्रायः दूसरों की कमियों को गिनाता रहता है ताकि स्वयं की कमियां उसे कचोटें नहीं। उनसे अनभिज्ञ रहने, उनकी ओर से आंखें मूंद लेने को ही वह अपने लिए श्रेयस्कर मानता है।

रोग को भुला देना ही रोग से छुटकारा पाना नहीं है। उसे भुलाया या झुठलाया जाएगा, तो उसके बढ़ते जाने की ही सम्भावना अधिक है। रोग को मिटाना है, तो पहले उसे तथा उसके कारणों को जानना आवश्यक है और फिर उपचार को जानना और करना होगा। अपने उपचार के लिए अपने ही रोग को जानना होता है। दूसरे के रोग को जान लेने से अपने रोग में तनिक भी अन्तर नहीं आ पाता।

अपनी ओर झांकें

मनुष्य बहुत लम्बे समय से दूसरों के रोगों को, कमियों को जानने में रुचि लेता रहा है, पर अब अपने रोग को जानने और उसका प्राथमिकता से उपचार करने का अवसर आ गया है। यदि कोई यह कहता है कि मेरे से कहीं अधिक रोग-ग्रस्त दूसरे हैं, अतः उनका उपचार पहले अपेक्षित है, तो यह एक दृष्टि-भ्रम ही कहा जाएगा। यदि सत्य भी हो, तो भी उसका उपचार उसी के द्वारा सम्पन्न होगा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य किसी के द्वारा नहीं, अतः अपने को देखना, अपना उपचार करना ही श्रेयोमार्ग है। अपना रोग या अपना दोष बहुत साधारण या बहुत छोटा लगता हो, तो उस ज्ञान को वास्तविक मानकर प्रायः खतरा ही मोल लिया जाता है। बहुधा अपना दोष स्वयं को जितना छोटा लगता है, उससे वह बहुत बड़ा होता है। समुद्रतल पर बहने वाली बर्फ की चट्टान बाहर से जितनी दिखाई देती है, उससे कई गुना जल के अन्दर होती है। इसीलिए अपने लिए आत्म-दर्शन की प्रक्रिया निरन्तर चालू रहनी चाहिए। दूसरों के दोषों को देखते रहने का अभ्यस्त मनुष्य बहुधा अपने दोषों को देखना भूल जाता है। यदि एक बार भी वह स्वयं के अन्दर झांक कर देख ले, तो निश्चय ही फिर दूसरों के अन्दर झांकना भूल जाएगा। दूसरों से अपने को अच्छा या उत्कृष्ट समझने की भूल भी फिर सम्भवतः नहीं करेगा।

शिष्य का निवेदन

एक योगी ने अपनी साधना के द्वारा अनेक चामत्कारिक शक्तियां उपार्जित कर लीं। चमत्कार को नमस्कार करने वाली दुनिया में चारों ओर उसके भक्त ही भक्त हो गए। वे जहां जाते, लोगों की भीड़ लग जाती। उनकी वैयक्तिक सेवाओं के लिए उनके पास एक अन्य संन्यासी शिष्य था। वह साधना में तो नहीं, परन्तु उनकी सेवा करने में सदा तत्पर रहता। कालान्तर में योगी वृद्ध हो गए। सेवाभावी संन्यासी ने तब उनसे कहा—'भगवन्! आपके पास तो इतने लोग आते हैं और आपका इतना महत्त्व है। परन्तु पीछे से मुझे कौन पूछेगा? मुझे कोई ऐसा चमत्कार सिखा दीजिए ताकि आपके शिष्य के अनुरूप मेरी भी पूछ होती रहे।'

गुरु का अवदान : शिष्य का प्रयोग

गुरु ने अपने झोले में से निकाल कर एक डंडा दिया और कहा कि यह अपने पास रखो। इसका अगला सिरा जिसकी ओर कर दोगे, उसके मन को तुम स्पष्ट पढ़ सकोगे, उसके अन्दर जो भी अच्छा-बुरा होगा, वह सब तुम्हारे सामने स्पष्ट आ जाएगा।

शिष्य ने डंडा अपने हाथ में ले लिया। प्रयोग करके देखने की इच्छा बलवती हुई। वहां और कोई तो था नहीं, अतः उसकी नोंक को गुरु की ओर ही घुमा दिया। उसी क्षण गुरु का समग्र अन्तरंग उसको अपनी हस्त-रेखा के समान स्पष्ट दिखाई देने लगा। उसने देखा—गुरुजी के मन के एक कोने में काम-क्रोध आदि दुर्गुणों के कुछ कीड़े कुलबुला रहे हैं। अपने गुरु को उसने सदैव भगवत् तुल्य पवित्र समझा था। आज उनके मन की मलिनता को देखकर उसका मन वितृष्णा से भर उठा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वयं को देखें

गुरु ने उसके मनोभावों को भांप लिया। उन्होंने कहा—'वत्स! जरा डंडे के अग्रभाग को अपनी ओर भी मोड़ो?'

शिष्य ने कहा—'मैं अपनी ओर क्यों मोड़ूं? मैंने तो अपना सारा जीवन आपकी सेवा में ही समर्पित कर रखा था। मेरे सामने तो कार्य ही इतना रहता था कि काम, क्रोध आदि को वहां उत्पन्न होने का कोई अवसर ही नहीं था।'

गुरु ने कहा—'फिर भी देख लेने में क्या आपत्ति है?'

शिष्य ने बड़े आत्म-विश्वास के साथ डंडे के अग्र भाग को अपनी ओर किया। ज्यों ही उसने अपने अन्दर झांककर देखा, उसके आश्चर्य का पार नहीं रहा। वह तो स्वयं को परम पवित्र मान रहा था, परन्तु वहां तो मन में सर्वत्र न जाने कितने प्रकार के कीड़ों से स्थान संकुल हो रहा था!

उस आत्म-दर्शन के साथ ही उसका घमण्ड चूर-चूर हो गया। गुरु-चरणों में नत होकर उसने स्वयं को सदा के लिए सुधार लिया।

इसीलिए कहा जा सकता है कि स्वयं के अन्दर झांककर देखना सर्वाधिक आवश्यक है, अन्यथा मन में आत्म-गौरव की जो अनेक निरर्थक भ्रांतियां पनप रही होती हैं, वे टूट नहीं पातीं। अपने ही द्वारा जब अपने दर्शन की तैयारी की जाती है, तभी वास्तविकता के दर्शन की तैयारी होती है और तभी व्यक्ति के अन्दर छिपी भगवत्ता के दर्शन भी सहज हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुशासन : एक समस्या

मानव जाति के विकास-क्रम में एक युग ऐसा भी था, जिसमें मनुष्य एकाकी रहता था और शिकार के आधार पर जीवन-यापन करता था। वह युग संख्यातीत वर्ष पूर्व का था। उस समय तक मानव-सभ्यता का विकास अंकुरित नहीं हुआ था कालान्तर में प्राकृतिक प्रेरणा ने उसे सामूहिक जीवन की ओर अग्रसर किया। सुरक्षा की भावना भी ऐसा करने में उसके लिए सहायक थी। **'एकोऽहं बहु स्याम्'** का ईश्वरीय संकल्प मानवीय संकल्प का ही प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। अकेला रहने वाला मनुष्य धीरे-धीरे समाज बनाकर रहने का अभ्यस्त हो गया।

एकाकी जीवन पद्धति

एकाकी जीवन-पद्धति से सामष्टिक जीवन-पद्धति में आने पर मानव-जाति को जहां अनेक सुविधाएं प्राप्त हुईं, वहां उसे अनेक दुविधाओं का भी उपहार मिला। उसकी क्षमताएं तो बढ़ीं, पर साथ ही विवशताएं भी बढ़ गईं। एकाकी के लिए मन ही सर्वोपरि संविधान होता है। करणीय और अकरणीय का निर्णय वही करता है। प्रत्येक विधि और निषेध उसी की आकांक्षाओं के इंगित बनकर चलते हैं। उस स्थिति में न किसी स्थिर सिद्धान्त की अपेक्षा होती है और न किसी प्रदत्त आदर्श के प्रकाश की। जो चाहा, वह किया और जो नहीं चाहा, वह नहीं किया। यही उस समय का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त या आदर्श कहा जा सकता है। परन्तु सामष्टिक जीवन में किसी भी एक व्यक्ति की मनमानी नहीं चल सकती। वहां दूसरों की भावनाओं, इच्छाओं तथा सुख-सुविधाओं का ध्यान रखना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो जाता है। उस स्थिति में दूसरों के लिए अपनी सुविधाओं का आंशिक परित्याग भी करना पड़ता है।

सामाजिक जीवन : स्वार्थ की सीमा

सामजिक जीवन के उस उषःकाल में प्रथम बार जब किसी मनुष्य ने किसी दूसरे के लिए अपनी सुखोपलब्धि में उत्पन्न बाधा को सहा, तभी से अनुशासन का जन्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ। पर-हित में बाधक बनने वाले स्वहित का स्वेच्छया परित्याग तभी किया जा सकता है, जबकि अपनी भावनाओं पर अपना नित्यत्रण स्थापित किया गया हो। प्रारम्भ में यह अनुशासन पारस्परिक प्रेम के आधार पर किया जाता रहा, परन्तु ज्यों-ज्यों सामूहिकता का दायरा बढ़ा, त्यों-त्यों स्वहित के परित्याग की अधिकाधिक आवश्यकता होती गई। आखिर उस त्याग से मनुष्य मुंह चुराने लगा। उसका प्रयास होने लगा कि स्वयं उसको कम-से-कम त्याग करना पड़े, परन्तु दूसरों के त्याग का फल भोगने का अवसर अधिक-से-अधिक मिलता रहे। यह भावना त्याग की भावना के समान सामूहिक-जीवन के लिए हितकर नहीं थी। इसमें परार्थ या परमार्थ के स्थान पर केवल स्वार्थ का ही प्राधान्य था।

अनुशासन : पहला कदम

दुर्भावना छूत के रोग के समान होती है। उसके कीटाणु बहुत शीघ्र दूसरों तक पहुंच जाते हैं। फलतः प्रत्येक मनुष्य की भावना में वे ही विचार उभरने लगे। जब हर एक अपने आपको त्याग से बचाने लगा और दूसरों के त्याग का उपभोग करने को उत्सुक रहने लगा, तो अव्यवस्था और आपा-धापी होने लगी। उस स्थिति में स्वेच्छया अनुशासन की वृत्ति को फिर से जागरित करने के लिए समूह के प्रभावक व्यक्तियों ने मिलकर कुछ सीमाएं निर्धारित कीं, जो सबके लिए समान रूप से स्वीकार्य हुईं। यहीं से अनुशासन की वृत्ति को एक स्वरूप मिलना प्रारम्भ हुआ।

राजतंत्र की स्थापना

सर्व स्वीकृत नियमावली ने व्यक्ति को वैयक्तिकता की भूमि से उठाकर सामाजिकता की भूमि पर ला खड़ा किया। साथ ही स्वेच्छा के स्थान पर बाध्यता का भी प्रवेश हुआ और नियम पालन न करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी। कालान्तर में नियम-पालन और दण्ड की सुव्यवस्था के लिए राजतंत्र की स्थापना हुई। इस प्रकार समय के साथ-साथ अनुशासन के आकार, प्रकार और आधार आदि में अनेक परिवर्तन आते रहे। उसका स्वरूप नदी के उस स्वरूप की तरह विराट होता गया, जो कि अपने प्रारम्भ काल में मात्र एक पतली-सी धारा होती है। आज के ये भारी-भरकम संविधान और ये प्राणान्तक दण्ड-संहिताएं इस बात को पूर्णतः प्रमाणित कर देती हैं।

अनुशासन की सीमा

आजकल प्रायः कहा जाता है कि हर स्थान पर अनुशासन-हीनता फैल रही है। यह स्थिति आज की एक बृहत्तम समस्या बन गयी है। इसको हल करने के लिए इसके कारणों की तह तक पहुंचना अत्यन्त आवश्यक है। क्या आज मानवीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रगति के लिए पहले की तरह अनुशासन की आवश्यकता नहीं रह गयी है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जब तक मनुष्य समाज बनाकर रहता रहेगा, तब तक अनुशासन की आवश्यकता किसी भी प्रकार से मिट नहीं सकती। उसको हर स्थिति में अपनी स्वच्छन्दता पर अंकुश लगाकर ही रहना पड़ेगा। समाज को पूर्णतः छोड़कर गुहा-मानव के युग में पुनः चला जाना उसके लिए अब किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है, वांछनीय भी नहीं है। तब फिर यह प्रश्न सामने आता है कि आखिर यह अनुशासन-हीनता फैलती क्यों जा रही है ? इस प्रश्न के साथ ही मेरे मन में एक नया प्रश्न उठ आता है कि कहीं स्वयं अनुशासन ही तो अनुशासन-हीन नहीं बन गया है ? मुझे अपने पहले प्रश्न से यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। ज्यों-ज्यों इस पर सोचता हूं, त्यों-त्यों यही अधिक सही लगता है कि अनुशासन को भी अपनी सीमाएं रखनी चाहिए। अन्यथा उसके प्रति पालक अनुशासन-हीन बनेंगे ही। वर्तमान के संविधान की ओर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सम्भवतः अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

नियमों का जाल

कहा तो यह जाता है कि जिस राज्य-सत्ता में नियम कम से कम होते हैं, वही सर्वोत्तम होती है, परन्तु कार्य-व्यवहार में इससे बिल्कुल उलटा हो रहा है। जिन नियमोपनियमों को मनुष्य ने कभी सिर का मुकुट मानकर धारण किया था, आज वे बढ़ते-बढ़ते सिर का भार बन गये हैं। भार भी इतना कि वाहक उसके नीचे दबकर पिस जाए। नियमावली के इस जाल में इतना झाड़-झंकाड़ उग आया है कि आगे बढ़ने का कोई निरापद मार्ग तो दूर, कोई पगडंडी भी दृष्टिगत नहीं होती। ऐसी विषम स्थिति में जिसको जिधर से ठीक लगता है, वह उधर से ही अपना मार्ग खोजता है, नयी पगडंडी निकालता है और उसी को सही सिद्ध करने वाले वकील खड़े करता है। आज की अनुशासन-हीनता में अन्य अनेक कारणों के साथ यह एक बहुत बड़ा कारण मुझे प्रतीत होता है, जो कि औरों के द्वारा प्रायः उपेक्षित कर दिया जाता है।

कोढ़ में खाज

जनता से यदि अनुशासनशीलता की अपेक्षा की जाती है, तो उसके पूर्व अनुशासक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होगा कि वे संविधान को 'अगम्य' होने से बचाएं। विधि-निषेधों और उनके अपवादों की भरमार से जो अगम्यता है, उसके साथ ही जन-भाषा की उपेक्षा और जनता की अशिक्षा ने कोढ़ में खाज का काम किया है। जो अभी तक ठीक-ठीक जाना ही नहीं गया है, उसका पालन कैसे किया जा सकता है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तनीय प्रश्न

मनुष्य की कर्मण्यता और नव प्रेमिता के चारों ओर जब प्रतिबन्धों की दीवारें उठने लगती हैं, ऐसी विवशता की स्थिति में अनुशासनशीलता के स्थान पर अनुशासन-हीनता को ही पनपने का अधिक अवसर मिलता है। जब तक ऐसी विवशता नहीं आती, तब तक प्रायः अनुशासन का विरोध कोई नहीं करता।

संख्यातीत वर्षों से अनुशासन से परिचित मानव-जाति के लिए आज अनुशासन नयी वस्तु नहीं है। वह अनुशासन पर श्रद्धा रखकर ही चलती है। राष्ट्र, समाज, धर्म, गुरुजनों और परिजनों के अनेकविध अनुशासनों में सन्तुलन बिठा लेने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। भारतीय जनता के लिए तो यह सन्तुलन बिठाना अपेक्षाकृत और भी सरल है, क्योंकि वह स्वभावतः अधिक कोमल और विनीत रही है। यहां की जनता के लिए जब यह प्रश्न उठाया जाता है कि वह अनुशासन-हीन होती जा रही है, तो अवश्य ही चिन्तनीय हो जाता है।

दोष किसका है ?

अनुशासन-हीनता का दोष यहां प्रायः वर्तमान पीढ़ी के युवकों तथा छात्रों पर लगाया जाता है, पर यह कैसे कहा जा सकता है कि यह दोष मात्र उन्हीं का है। मेरी धारणा है कि उनका उतना दोष नहीं है, जितना कि उनके मार्ग-दर्शकों या अभिभावकों का है। युवकों और छात्रों में जोश होता है, नया रक्त कुछ कर दिखाने को लालायित रहता है। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें ठीक मार्ग-दर्शन मिले तो वे समाज और राष्ट्र के लिए बड़े उपयोगी हो सकते हैं। समुचित मार्ग-दर्शन के अभाव में उनकी शक्ति का उपयोग ऐसे व्यक्ति करने लगते हैं, जो समाज के लिए घातक होते हैं। वे युवक-शक्ति को गलत मार्ग की ओर मोड़कर अपनी नेतृत्व की भूख को तृप्ति प्रदान करते हैं। युवक ऐसे लोगों के प्रभाव में आकर अपनी शक्ति का उपयोग करने का अवसर तो प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु अपरिपक्व होने के कारण वे शीघ्रता से यह निर्णय नहीं कर पाते कि उनकी शक्ति का बहाव अच्छाई की ओर हो रहा है या बुराई की ओर? मेरा विश्वास है कि युवा-शक्ति के उपयोगार्थ यदि शासन के पास प्रचुर क्षेत्र हो और यथासमय उन्हें उचित मार्ग-दर्शन मिलने लगे, तो अनुशासन-हीनता की शिकायत स्वतः ही समाप्त हो जाए। मार्गदर्शकों के पास इतनी शक्ति अवश्य होनी चाहिए, जिससे वे युवकों में यह विश्वास उत्पन्न कर सकें कि निर्दिष्ट मार्ग ही उनके लिए सर्वोत्कृष्ट है। यदि इतना किया जा सका, तो शक्ति का सदुपयोग होने के साथ-साथ उच्च नागरिकों के निर्माण का कार्य भी स्वतः सम्पन्न हो जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वोत्कृष्ट अनुशासन

अनुशासन किसी पर थोपा नहीं जा सकता, परन्तु अनुशासन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की जा सकती है। तब वह अनुशासन ऊपर से आया हुआ नहीं रह जाता। स्वयं व्यक्ति उसे अपने लिए हितकर एवं आवश्यक मानकर स्वीकार करता है। वैसा अनुशासन चाहे राजसत्ता की ओर से, चाहे समाज की ओर से तथा चाहे धर्म की ओर से आये, वस्तुतः वह उसका अपना बन जाता है। अपना अनुशासन पालने में कभी किसी को कोई बाधा नहीं होती। अध्यात्म की भाषा में ऐसे अनुशासन को आत्मानुशासन कहा जाता है। यही सर्वोत्कृष्ट अनुशासन है। इसकी स्थापना से अनुशासन-हीनता का प्रश्न सदा के लिए समाहित हो जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिशा-बोध

भारतीय समाज में विवाह संस्कार को सर्वाधिक मंगलमय कार्य माना जाता है। पारिवारिक परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए यह अनिवार्य और आवश्यक है। इसमें भिन्न परिवारों के भिन्न लिंगी दो व्यक्तियों—वर और वधू को समाज की साक्षी से सह-जीवन की स्वीकृति दी जाती है। उक्त अवसर पर आनन्द और उल्लास के वातावरण में दोनों व्यक्ति पति-पत्नी के रूप में स्नेह-सूत्र में बंध जाते हैं, साथ ही उन दोनों के परिवारों तथा मित्रजनों के मानस भी स्नेहसिक्त हो जाते हैं।

अभिभावकों का कर्तव्य

एक नया घर बसता है। गृहस्थ-जीवन की एक नयी गाड़ी संसार की दौड़ में सम्मिलित हो जाती है। पति-पत्नी उस गाड़ी मे दो चक्कों के समान होते हैं। इसीलिए प्रत्येक विवाह के साथ यह अपेक्षा जुड़ी रहती है कि दोनों चक्के समान हों। माता-पिता आदि अभिभावकों का मुख्यतः यही कर्तव्य माना जाता है कि वे शील, गुण और वय आदि की उपयुक्त समानता देखकर ही सम्बन्ध निश्चित करें, अन्यथा चक्कों में विषमता रहेगी और गाड़ी समभूमि पर भी हिचकोले खाती चलेगी। सम्भव है, कोई जोर का हिचकोला उसे उलट या तोड़ ही डाले। वह स्थिति किसी के लिए भी शोभास्पद नहीं कही जा सकती।

विवाह से जुड़ी समस्या

विवाह-संस्कार की मंगलमयता को आजकल की कुछ प्रवृत्तियों ने दूषित कर दिया है। फलतः आनन्द और उल्लास का वातावरण चिन्ता और निराशा से घिरने लगा है। उन प्रवृत्तियों को समाज के कर्णधारों तथा समर्थ व्यक्तियों के द्वारा हतोत्साहित किये जाने के बजाय प्रोत्साहित ही किया जाता रहा है, अतः मध्यमवर्ग वालों के लिए विवाह एक समस्या बनता जा रहा है। मनुष्य की व्यावसायिक वृत्ति ने विवाह को भी व्यवसाय का एक अंग बना डाला है। लड़के और लड़कियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का मोल-तोल हो रहा है। कुछ वर्ष पूर्व बाजार में लड़कियों के भाव ऊंचे थे, आज लड़कों के ऊंचे हैं।

ठहराव की कुप्रथा

लड़के का पिता इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाता है। विवाह से पूर्व उसने लड़के की पढ़ाई आदि पर जितना व्यय किया होता है, उसे ब्याज सहित कन्या के पिता से उगाह लेना चाहता है। वह खुल्लम-खुल्ला ठहराव करता है कि इतने रुपये दे सको, तो बात करो, अन्यथा मेरे लड़के के लिए और बहुत-सी लड़कियां हैं। लड़की के पीले हाथ करने की चिन्ता से दबे हुए कन्या के पिता को वह मांग पूरी करनी ही होती है। स्वयं के पास उतनी रकम नहीं होती, तो ऋण लेकर देता है, घर-बार बेचकर देता है। देता क्या है, देना पड़ता है। कन्या का पिता होने के कारण यह उसकी विवशता हो गयी है। ठहराव की इस कुप्रथा ने विवाह के अमृतोपम आनन्द में विष घोल दिया है। पिता अपनी पुत्री को स्वेच्छा से देता है, वह बुरा नहीं है, परन्तु उसमें अनिवार्यता नहीं होनी चाहिए। अनिवार्यता और सौदागरी ने दहेज को ठहराव बना दिया है, जो कि सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार प्रदर्शन, बृहद् भोज तथा समधी की अनेकानेक मांगों के साथ जूझता हुआ कन्या का पिता एक ही कन्या के विवाह से मानसिक स्तर पर टूट-सा जाता है।

ठहराव का विरोध करें

विवाह सम्बन्धी ये समस्याएं स्वल्पाधिक रूप में भारत में प्रायः सभी क्षेत्रों तथा तबकों में व्याप्त हैं, परन्तु मेरे विचार से राजस्थानी समाज में इनकी बहुत अधिक प्रबलता है। समाज-सुधारकों तथा कर्णधारों का कर्तव्य है कि विवाह-संस्कार को बोझिल बना देने वाली इन प्रथाओं और रूढ़ियों को हटाकर वे सहजता तथा सादगी को प्रश्रय देने वाले वातावरण का निर्माण करें। विवाह-सूत्र में बंधने वाले हर युवक और युवती को भी यह निश्चय करना चाहिए कि वे अपना मूल्य नहीं लगने देंगे और बाजार भाव में बिकने का विरोध करेंगे अर्थात् अपने विवाह में ठहराव नहीं होने देंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु, अनुभूति और अभिव्यक्ति

वस्तु और हम

इस संसार में यदि केवल हम ही होते, तो हमारे लिए कोई समस्या नहीं होती। हम न होकर केवल अन्य वस्तुएं ही होतीं, तो भी कोई समस्या नहीं होती। हम और वस्तुएं—दोनों होने पर भी यदि हमारे अन्दर किसी प्रकार की चेतना या जिज्ञासा नहीं होती, तो भी समस्या का अस्तित्व नहीं होता। परन्तु हम हैं, हमारे सदृश या विसदृश अन्य अनेक वस्तुएं हैं, इसी प्रकार हमारी चेतना या जिज्ञासा भी है और इसीलिए अनेकानेक समस्याएं भी हैं।

अनन्त गुणों और अनन्त पर्यायों के पिण्ड को वस्तु कहा जाता है। गुण—सहभावी धर्म, अर्थात् वह स्वभाव, जो वस्तु से कभी पृथक् नहीं होता। पर्याय—क्रमभावी धर्म, अर्थात् वह स्वभाव, जो वस्तु में क्रमिकता से प्राप्त होता है और उसे पौर्वापर्य—अवस्थान्तर प्रदान करता है। ऐसी वस्तु हमारी जिज्ञासा के लिए इसलिए एक समस्या बन जाती है कि उसमें 'अर्धनारीश्वर' की तरह अनश्वरता और नश्वरता या फिर अपरिवर्तनशीलता और परिवर्तनशीलता के रूप में विभिन्न विरोधी धर्मों का एक विचित्र सहावस्थान है। बहिरंग से वह एक प्रकार की ज्ञात होती है, तो अन्तरंग से बिल्कुल दूसरे प्रकार की।

इन विपरीतताओं का समाधान हमें वस्तु के लिए नहीं, स्वयं अपने लिए, अपनी जिज्ञासा की समाधि के लिए आवश्यक है। अन्य वस्तुओं के लिए ही क्यों कहा जाए, हमारी चेतना के सम्मुख हम स्वयं भी तो एक उसी कोटि की वस्तु हैं। यह कितनी विचित्र बात है कि हम स्वयं अपने आपके लिए कुछ प्रकाश में हैं और कुछ अंधकार में। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि हम स्वयं अपने आपसे कुछ परिचित और कुछ अपरिचित—दोनों हैं।

अपूर्ण अनुभूति

जिज्ञासा की उत्प्रेरणा से हम स्वयं को जानना चाहते हैं और उतनी ही उत्कण्ठा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से स्वयं से व्यतिरिक्त वस्तुओं को भी जानना चाहते हैं। हम जो हैं, वह है, वस्तु भी जो है, वह है; वहां तक कोई समस्या नहीं, परन्तु जब हम स्वयं अपने आपको या वस्तु-सत्य को अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं, उसकी वास्तविकता जानना चाहते हैं और उसके अन्तरंग तक पहुंचने का प्रयास करते हैं, तभी हमारे सम्मुख अनेकानेक समस्याएं आ उपस्थिति होती हैं: आश्चर्य तो यह है कि कोई भी समस्या विषय की ओर से नहीं, अपितु सारी की सारी विषयी की ओर से ही उत्पन्न होती है। हमारी चेतना या ज्ञान की क्षमता ससीम ही होती है। उसकी परिधि में विषयगत किसी भी वस्तु की निःसीम क्षमता समा नहीं पाती। वस्तुतः चेतना या ज्ञान की यह अपूर्णता ही सारी समस्याओं का मूल है; क्योंकि इसी कारण से हमें वस्तुगत अखण्ड सत्य को उन अनेक खण्डों में देखने को विवश होना पड़ता है, जो कि वास्तविक नहीं होते।

आगम-वाणी कहती है कि सत्य ही लोक में सारभूत है। परन्तु हमारी चेतना की अपूर्णता ने उसकी उपलब्धि को एक समस्या बना दिया है पूर्ण चेतना पूर्ण सत्य को पा सकती है, परन्तु अपूर्ण चेतना से उसे कैसे पाया जा सकता है? हमारे लिए एक ही उपाय शेष है कि पहले अखण्ड को खण्डशः जाना जाए और फिर कल्पना के धागे से जोड़ लिया जाए। अनेक फटे वस्त्र खण्डों को जोड़कर बनाया गया परिधान हमारी चेतना की लज्जा को तो अवश्य बचा लेता है, परन्तु व्यवस्थित परिधान का सौन्दर्य कदापि प्रदान नहीं कर सकता।

हम चेतन हैं, अतः चेतना की भूमि पर खड़े रहकर ही वस्तु-सत्य का अनुभव कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा निर्णय वस्तु पर नहीं, अपितु हमारी चेतना में वह कैसा आभासित होता है, इसी पर एक मात्र आधृत होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी चेतना जितनी पूर्ण और अनावृत होगी, सत्य उसमें उतनी ही पूर्णता से आभासित होगा।

दो साधन

हमारे पास चेतना-व्यापार के दो साधन हैं---इन्द्रियां और मन। परन्तु ये बहुत ही अपूर्ण और अपर्याप्त हैं। चेतना की निर्बल आंखें सत्य के सूर्य को प्रत्यक्ष नहीं देख पातीं। इन्द्रिय और मन के विभिन्न रंगीन कांचों को मध्य में लेकर ही उसे देखना पड़ता है। इस विधि से सूर्य के प्रकाश का सहस्रांश भी उसमें आभासित नहीं हो पाता। इस प्रकार सत्य तक पहुंचने में इन्द्रियां और मन जितने साधक बनते हैं, उससे कहीं अधिक बाधक बन जाते हैं। ये हमें वस्तु-सत्य तक न पहुंचाकर अपनी अनुभूतियों को ही वस्तु-सत्य मान लेने के लिए बाध्य करते हैं।

इनके माध्यम से उपलब्ध अनुभव की असन्दिग्ध प्रामाणिकता कभी हो ही नहीं पाती। अनेक बाह्य परिस्थितियां उन्हें इतना प्रभावित कर डालती हैं कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान में विपर्यय आ जाता है। उदाहरण रूप में आंखों को ही लीजिए। एक ही वृक्ष समीप से बहुत बड़ा दिखाई देता है और दूर से बहुत छोटा; जब कि हमारे समीप या दूर से उसके फैलाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार समानान्तर चलने वाली रेल की सीधी पटरियों के मध्य में खड़े होकर देखने वालों को समीप में वे वस्तु चौड़ी फिर क्रमशः संकरी होती हुई एक बिन्दु पर मिलती हुई दिखाई देती हैं, जबकि सत्य यह होता है कि उनकी दूरी हर स्थान पर समान होती है। इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियों के बारे में समझा जा सकता है। सारा का सारा इन्द्रिय-ज्ञान हमारी इन्द्रिय-सापेक्ष अनुभूतियों से सम्बद्ध होता है, न कि वस्तु के मूल रूप से। इन्द्रियां जो अपने निष्कर्ष निकालती हैं, हम उन्हें मान लेने को बाध्य हैं। लेकिन यह इन्द्रियों के साथ हमारा समझौता है, वस्तु का नहीं। उसके साथ यह बाध्यता नहीं है कि इन्द्रियों की अनुभूति के अनुरूप ही वह अपने को रखे।

सतही ज्ञान

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु-सत्य को समझ पाना सहज नहीं, अपितु बहुत ही कठिन है। सत्य की सतह पर ही हमारी सारी शक्ति खपती रहती है। उसके अन्तरंग तक प्रवेश पाने का अवसर प्रायः आता ही नहीं। किसी मकान को देखने वाला व्यक्ति यह आशंका करता ही कब है कि उसने तो केवल मकान का ऊपर वाला पलस्तर ही देखा है। वह तो साधिकार यही घोषणा करता है कि उसने उस मकान को अच्छी तरह से देखा है। सत्य के इस सतही या पलस्तर ज्ञान को मात्र व्यावहारिक या स्थूल ज्ञान ही मानना चाहिए। परमार्थ उससे बहुत दूर होता है। इन्द्रिय और मन के साधनों से हम परमार्थ तक नहीं, व्यवहारार्थ तक ही पहुंच पाते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि इन्द्रिय-ज्ञान सत्य ज्ञान नहीं होता। होता है, परन्तु यह भी नहीं कि वह पूर्ण सत्य होता है। उससे आगे भी उसी इन्द्रिय-ज्ञान सत्य का बहुत-सा अंश जानने को अवशिष्ट रह जाता है। डॉक्टर रोगी के शरीर को ऊपर से देखकर जब रोग का निर्णय नहीं कर पाता, तब वह सूक्ष्मता से देखने के लिए अनेक प्रकार के इन्द्रियेतर यंत्रों का प्रयोग करता है। गहराई तक देखना हो तो 'एक्स-रे' का भी प्रयोग करता है। उस प्रक्रिया से वह उसे देखता है, जिसे कोरी आंखों से नहीं देख पाया था।

पशु का कार्य केवल उतने मात्र से चल जाता है जो कि उसे अपनी आंखों से दिखाई देता है, किन्तु मनुष्य का नहीं। वह आंखों से परे भी देखना चाहता है। वह कार्य-जगत् की स्थूलता में ही रुक कर नहीं रह जाता, कारण-जगत् की खोज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आगे बढ़ता है और कार्य की स्थूलता के पीछे छिपी कारण की सूक्ष्मता को जान जाता है।

सागर और गागर

दार्शनिकों ने इसी स्थूलता और सूक्ष्मता के दृष्टिकोण को लेकर प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद कर दिए। एक वह प्रत्यक्ष, जो सतही या बहिरंग होता है तथा दूसरा वह, जो अन्तरंग होता है। दार्शनिक शब्दों में उन्हें क्रमशः सांव्यवहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। प्रथम प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और मन के माध्यम से प्राप्त ज्ञान आता है, जबकि द्वितीय में केवल आत्मा के माध्यम से प्राप्त अतीन्द्रिय ज्ञान।

हमारे सम्मुख सर्वांग अनुभूति की विकट समस्या इसीलिए है कि इन्द्रियों और मन से ज्ञात वस्तु में जो अज्ञातांश है और जो कि बहुलांश है, उसे जानने के लिए हमें कोई साधन उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध साधनों से जितना जान सकते हैं, वह केवल नाममात्र को ही जानना कहा जा सकता है, क्योंकि वह बहुत अल्प होता है।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु की अखण्ड अवस्थिति को यदि हम एक सागर की उपमा दें, तो हमारे इन्द्रिय-ज्ञान की खण्डशः अनुभूति को एक घड़ा कह सकते हैं। सागर की विशालता के सम्मुख घड़े की क्या बिसात है? सागर की इयत्ता का कोट्यंश भी घड़े की समग्र इयत्ता से बड़ा होता है। गागर में सागर भर देने की बात कवि-कल्पना के अतिरिक्त और कहीं सत्य नहीं होती।

अभिव्यक्ति की क्षमता

वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता हमारी अनुभूति के लिए एक समस्या है, तो हमारी अनुभूति भी हमारी अभिव्यक्ति के लिए कोई छोटी समस्या नहीं है। वस्तु के सागर में से भरी हुई अनुभूति की यह गागर भी हमारी अभिव्यक्ति के लिए एक सागर ही बन जाती है। वस्तु के साथ माध्यम-निरपेक्ष सीधे सम्बन्ध अर्थात् आत्म-ज्ञान की बात को एक क्षण के लिए अलग भी छोड़ दें, तो मात्र इन्द्रिय-ज्ञान की यथावस्थित अभिव्यक्ति भी हमारे लिए सम्भव नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि जितना है, उतना जानने की और जितना जानते हैं, उतना बता पाने—शब्दों में उतारने की क्षमता हमारे पास नहीं है। हम गुलाब और रजनीगन्धा की सुगन्ध को पृथक्-पृथक् जानते तो हैं, परन्तु क्या पार्थक्य है, यह किसी को समझा नहीं सकते। पार्थक्य ही क्यों, मूल गन्ध को समझाने के लिए भी हमारे पास शब्द नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु और शब्द

वस्तु के साथ शब्द का यदि कोई सम्बन्ध है, तो वह हमारी कल्पना के माध्यम से ही है। मूलतः कोई सम्बन्ध नहीं है। ये एक प्रकार के लेबल हैं, जो हमारी सुविधा के लिए हमने वस्तुओं पर चिपका दिये हैं। इसलिए कोई भी शब्द वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं, केवल वस्तु के प्रति हमारी अनुभूति का ही प्रतिनिधित्व करता है। तात्पर्य यह कि शब्द के द्वारा हम वस्तु की नहीं, किन्तु उसके प्रति अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति करते हैं। 'नीम कड़वा है' इस वाक्य से हम इतना ही बतला सकते हैं कि हमारी जिह्वा को नीम के स्वाद की कैसी अनुभूति होती है। नीम की वास्तविकता क्या है, यह उससे नहीं जाना जा सकता। ऊंट, बकरी आदि अनेक पशुओं की अनुभूति में वह कड़वा न होकर मीठा हो सकता है। सांप-काटे मनुष्य की अनुभूति में भी वह मीठा होता है। साधारण मनुष्यों में वह किसी को अधिक कड़वा लगता है, किसी को कम। तो फिर यही कहा जा सकता है कि नीम का वास्तविक स्वाद क्या है—यह हम में से किसी को भी ज्ञात नहीं है।

वास्तविकता से हम कुछ दूर तो तभी हो जाते हैं, जब वस्तु को हमारी अनुभूति की परिधि से देखते हैं। परन्तु तब और भी दूर हो जाते हैं जबकि उस अनुभूति के अनेक अंशों में से एक बार किसी एक को ही शब्द परिधान पहना पाते हैं। 'नीम कड़वा है' इस वाक्य के द्वारा हम नीम-विषयक मात्र अपनी जिह्वा की ही अनुभूति व्यक्त कर पाते हैं, जबकि शेष इन्द्रियों की भी तद्विषयक अनुभूति हमारे पास होती है। उसके आकार, वर्ण, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों की अनेक बातें जानते हुए भी उस वाक्य में हम उन्हें व्यक्त नहीं कर पाते। उन सबकी अभिव्यक्ति के लिए हमें पृथक्-पृथक् वाक्यों का आश्रय लेना होता है। इस प्रकार किसी भी एक वस्तु विषयक गुणों की अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करते समय हमें ढेर सारे वाक्यों का प्रयोग करना होता है। हमें वस्तुगत उन गुणों की क्रमिक अभिव्यक्ति के लिए बाध्य होना पड़ता है, जबकि सत्य यह होता है कि वे सब वहां युगपत् अवस्थित होते हैं।

शब्द कहीं, अर्थ कहीं

इतना ही क्यों, हमारी अभिव्यक्ति की और भी अनेक कमजोरियां हैं। जिस भाषा का हम प्रयोग करते हैं, उसमें कहीं एक वस्तु के लिए अनेक शब्द स्थापित हैं, तो क्वचित् अनेक वस्तु के लिए एक ही शब्द से काम चलाना होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्वचित् शब्द का मूलार्थ अन्य होता है और प्रयुक्त वाक्य के सन्दर्भ में वह कुछ अन्य ही अर्थ प्रकट करने लगता है।

यह सड़क स्टेशन जाती है।
यहां गेहूं की बोरियां पड़ी हैं।
नाली बह रही है।
मैं रेडियो सुन रहा हूं।

उपर्युक्त सभी वाक्यों का अर्थ हम शब्दों से कुछ हटकर ही समझ सकते हैं। हम अच्छी तरह से जानते हैं कि सड़क कभी स्टेशन नहीं जाती, किन्तु सड़क पर चलने वाला व्यक्ति जाता है। बोरियां गेहूं की नहीं, जूट आदि की बनी होती हैं। नाली में पानी बह रहा है, स्वयं नाली नहीं। इसी प्रकार रेडियो नहीं, रेडियो में बोली गयी बातें सुनी जाती हैं।

अभिव्यक्ति की इस प्रकार की अनेक अपूर्णताओं के कारण ही हमारी एक बात का विभिन्न व्यक्ति विभिन्न अर्थ लगा लेते हैं और तब हमें 'हमारा तात्पर्य यह नहीं, यह था' के द्वारा अपना स्पष्टीकरण देने को बाध्य होना पड़ता है। सम्भव है, उक्त स्पष्टीकरण के पश्चात् भी उन व्यक्तियों के मन में यह आशंका बनी रह जाए कि पहले तो बात इसी अर्थ में कही गयी थी, परन्तु अब पलटकर उसका दूसरा अर्थ किया जा रहा है।

प्रतिनिधि शब्द

उपर्युक्त सभी प्रकार की कमियों के रहते हुए भी हमारे पास अभिव्यक्ति के लिए भाषा ही अनन्य साधन है। इसके बिना हम अपने विचार एक-दूसरे तक समीचीन रूप से पहुंचा नहीं सकते। हमारे लिए इसका प्रयोग अनिवार्य है। चिन्त्य इतना ही रह जाता है कि किस प्रकार से इसका प्रयोग किया जाना चाहिए, जिससे कि भाषा हमारी अनुभूति को अधिक से अधिक पूर्णता के साथ अभिव्यक्त कर सके। भगवान् महावीर ने मार्ग बतलाते हुए कहा है—"**विभज्जवायं च वियागरेज्जा**"[1] अर्थात् बोलते समय 'विभज्यवाद' का प्रयोग करो।

विभज्यवाद : स्याद्वाद

विभज्यवाद का अर्थ है—अपेक्षावाद। जिस किसी भी वस्तु के विषय में हम कुछ कहना चाहते हैं, वह अनन्त धर्मात्मक होती है। उनमें से कुछ धर्म ही हमारे इन्द्रिय-सापेक्ष ज्ञान द्वारा ज्ञात हो पाते हैं। उन सब ज्ञात धर्मों का कथन भी एक

---

१. सूत्रकृतांग, १-१४-२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ में सम्भव नहीं है; अतः उन्हें विभिन्न अपेक्षाओं की दृष्टि से विभक्त कर दिया जाना आवश्यक हो जाता है। इस विभक्तीकरण को ही विभज्यवाद कहा जाता है। इसके द्वारा हम अभीष्ट का प्रतिपादन कर अपने अभिप्राय दूसरों तक पहुंचा पाते हैं। अभिव्यक्ति की इस प्रणाली का दूसरा नाम 'स्याद्वाद' भी है। वह इसलिए कि अनेक अपेक्षाओं में से वर्तमान में हम किसी एक अपेक्षा को ही चुन सकते हैं, शेष सब गौण होकर कालान्तर के लिए रह जाती हैं। उन सभी गौण अपेक्षाओं तथा उनके द्वारा प्रतिपादित होने वाले धर्मों के अस्तित्व की स्वीकृति की सूचना के लिए प्रतीक रूप में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसे इस प्रकार भी कहा जाता है कि 'स्यात्' शब्द कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त शेष सब धर्मों का प्रतिनिधित्व करता है। स्याद्वाद की इस वाक्य-प्रणाली को दर्शन शास्त्र में 'सकलादेश' या प्रमाण-वाक्य कहा जाता है।

बहुत बार 'स्यात् शब्द का प्रयोग किये बिना भी वस्तु के किसी धर्म-विशेष का प्रतिपादन किया जाता है, परन्तु वहां भी कथन करने वाले के विचारों में कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों के प्रति निराकरण की भावना नहीं आनी चाहिए। शेष धर्मों के लिए प्रतिनिधि शब्द 'स्यात्' का वाक्य में प्रयोग न करने पर भी अभिप्राय में तो वह रहना ही चाहिए। प्रतिनिधि-शब्द रहित साधारण रूप से बोले गये वाक्य को 'विकलादेश' अथवा 'नयवाक्य' कहा जाता है। प्रमाण वाक्य में वस्तु के एक कथ्यमान धर्म की मुख्य रूप से तथा शेष सभी धर्मों का 'स्यात्' के प्रतिनिधित्व में गौण रूप से कथन किया जाता है; अतः वह सम्पूर्ण वस्तु को विषय बनाता है। नयवाक्य में वस्तु के किसी एक धर्म को ही विषय बनाया जाता है। शेष धर्मों का न तो किसी प्रतिनिधि शब्द द्वारा समर्थन किया जाता है और न ही किसी निवारक शब्द द्वारा निषेध ही। केवल कथ्यमान को कहकर शेष के लिए तटस्थ मौन ग्रहण कर लिया जाता है।

सबके प्रति न्याय

प्रमाण-वाक्य का प्रयोग किया जाए, चाहे नयवाक्य का, दोनों ही स्थितियों में उद्देश्य यही होता है कि वस्तु-विषयक हमारी अनुमति को भाषा द्वारा ठीक अभिव्यक्ति मिले और उससे हमारे अभिप्राय को श्रोता ठीक ढंग से समझ पाये। प्रतिपाद्य के प्रति न्याय तभी सम्भव है, जबकि प्रतिपादक अपने आग्रह और एकान्त से मुक्त होकर यथावस्थित कथन करे। अयथार्थ कथन वैचारिक हिंसा है और यथार्थ कथन अहिंसा। भगवान् महावीर ने **'न या सियावायं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वियागरेज्जा[1] का उपदेश देकर संसार को यही सन्देश दिया है कि स्याद्वाद-रहित एकान्त वचन नहीं बोलना चाहिए। अहिंसा-पालकों के लिए स्याद्वाद प्रणाली के अतिरिक्त भावाभिव्यक्ति के लिए अन्य कोई निरवद्य प्रणाली नहीं है। इसी के द्वारा हम वस्तु सम्बन्धी हमारी अनुभूति को यथार्थ ढंग से अभिव्यक्त कर सकते हैं और वस्तु, श्रोता तथा स्वयं अपने प्रति न्याय कर सकते हैं।

१. सूत्रकृतांग, १-१४-१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद क्या है ?

स्याद्वाद : शब्द मीमांसा

स्याद्वाद, जैन दर्शन के मन्तव्य को भाषा में उतारने की पद्धति को कहते हैं। 'स्याद्वाद' के 'स्यात्' पद का अर्थ है, अपेक्षा या दृष्टिकोण और 'वाद' पद का अर्थ है—सिद्धान्त या प्रतिपादन। दोनों पदों से मिलकर बने इस शब्द का अर्थ हुआ—किसी वस्तु, धर्म, गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना 'स्याद्वाद' है।

आपेक्षिक सत्य

पदार्थ में जो अनेक आपेक्षिक धर्म हैं, उन सबका यथार्थ ज्ञान तभी सम्भव हो सकता है जबकि उस अपेक्षा को सामने रखा जाए। दर्शन-शास्त्र में नित्य-अनित्य, सत्-असत्, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि तथा लोक-व्यवहार में छोटा-बड़ा, स्थूल-सूक्ष्म, दूर-समीप, स्वच्छ-मलिन, मूर्ख-विद्वान् आदि अनेक ऐसे धर्म हैं, जो आपेक्षिक हैं। इनका तथा इन जैसे अन्य किसी भी धर्म या गुण का जब हम भाषा के द्वारा कथन करना चाहते हैं, तब वह उसी हद तक सार्थक हो सकता है, जहां तक हमारी अपेक्षा उसे अनुप्राणित करती है। जिस अपेक्षा से हम जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, उसी समय उसी पदार्थ के किसी दूसरे धर्म की अपेक्षा से दूसरे शब्द का प्रयोग भी किया जा सकता है। वह भी उतना ही सत्य होगा, जितना कि पहला। सारांश यह कि एक पदार्थ के विषय में अनेक ऐसी बातें हमारे ज्ञान में सन्निहित होती हैं, जो एक ही समय में सारी की सारी समान रूप में सत्य होती हैं। फिर भी वस्तु के इस पूर्ण रूप को किसी दूसरे व्यक्ति के सामने रखते समय हम इसे विभक्त करके ही रख सकते हैं। भाषा की कुण्ठता के कारण ऐसा करने के लिए हम बाधित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्यात् शब्द का प्रयोग क्यों ?

कोई एक शब्द वस्तु के सम्पूर्ण धर्मों की अभिव्यक्ति कर सके—ऐसा सम्भव नहीं है, अतः भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा भिन्न-भिन्न धर्मों का प्रतिपादन कर हम वस्तु सम्बन्धी अपना अभिप्राय दूसरों के सामने रखते हैं। जिस धर्म का प्रतिपादन करते हैं, उसके लिए तद्बोधक शब्द का प्रयोग करते हैं और अवशिष्ट विरोधी तथा अवरोधी समस्त धर्मों के लिए प्रतिनिधि स्वरूप 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका भाव होता है—कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त और अनेक धर्म भी इस वस्तु में विद्यमान हैं सही, परन्तु इस समय में उन सबकी सूचना ही कर सकते हैं, कथन नहीं। हमारी इस सूचना से ज्ञाता अवशिष्ट धर्मों को भी कथ्यमान धर्म के समान वस्तु का अंग समझे, पर साथ ही यह भी समझे कि इस समय हम उसका ध्यान मुख्यतया अमुक कथ्यमान धर्म की ओर ही आकृष्ट करना चाहते हैं।

कभी-कभी 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किये बिना भी वस्तु-धर्म का प्रतिपादन किया जाता है, परन्तु वहां भी कथन के अभिप्राय में कथ्यमान धर्म के अतिरिक्त धर्मों का निराकरण करने की बात नहीं आनी चाहिए, तभी वस्तु-सम्बन्धी वास्तविकता का आदर किया जा सकता है।

सकलादेश : विकलादेश

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि हम वस्तु का प्रतिपादन करते समय कभी सम्पूर्ण वस्तु के विषय में कहना चाहते हैं और कभी केवल उसके एक अंश मात्र के विषय में। वाक्य में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते समय सम्पूर्ण वस्तु का चित्र हमारे सामने होता है। उसी को दूसरे के सामने रखना चाहते हैं अर्थात् एक कथ्यमान धर्म को मुख्य रूप से और शेष धर्मों को 'स्यात्' के प्रतिनिधित्व में गौण रूप से कहना चाहते हैं। इस प्रकार के कथन को दर्शन-शास्त्र में 'प्रमाण-वाक्य' या 'सकलादेश' कहा जाता है। परन्तु जब हम वस्तु के किसी एक धर्म के विषय में तो कहते हैं, परन्तु शेष धर्मों के विषय में न तो किसी प्रतिनिधि शब्द का प्रयोग कर समर्थन करते हैं और न किसी निवारक शब्द का प्रयोग कर खण्डन करते हैं, केवल कथ्यमान धर्म को कहकर शेष के लिए तटस्थ मौनावलम्बी हो जाते हैं। यह कथन 'नयवाक्य' या 'विकलादेश' कहलाता है। दूसरे शब्दों में उपर्युक्त बात को यों भी कहा जा सकता है—वस्तु सम्बन्धी हमारी सम्पूर्ण दृष्टि प्रमाण और एक दृष्टि या दृष्टिकोण नय कहलाता है।

वैचारिक अहिंसा का प्रतीक

प्रमाण-वाक्य कहें चाहे नय-वाक्य, दोनों ही स्थितियों में उद्देश्य यही होता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु-प्रतिपादन में भाषा का प्रयोग ठीक से हो और ज्ञाता उसका अभिप्राय ठीक समझे। प्रतिपाद्य के प्रति किसी भी प्रकार का अन्याय तभी रुक सकता है, जबकि प्रतिपादक अपने आग्रह और एकान्त से विमुक्त होकर यथावस्थित कथन करे। अयथार्थ कथन वैचारिक हिंसा है तो यथार्थ कथन अहिंसा। प्रमाण-वाक्य और नय-वाक्यमय स्याद्वाद की इस कथन प्रणाली को वैचारिक अहिंसा का प्रतीक कहा जा सकता है, क्योंकि वह प्रणाली ही कथित और कथनावशिष्ट स्वभावों को, यदि वे वस्तु में प्रमाणित होते हैं तो समान रूप में स्वीकार करती है। यहां तक कि परस्पर विरोधी स्वभावों को भी जिस-जिस अपेक्षा से वे वहां प्राप्त होते हैं, उस-उस अपेक्षा से स्वीकार करना इस प्रणाली को अभीष्ट है। यदि ऐसा न किया जाए तो दार्शनिक पहलुओं का समाधान तो दूर रहा, व्यवहार भी नहीं चल सकता।

अपेक्षावाद : कुछ निदर्शन

भिन्न-भिन्न अपेक्षाएं भिन्न-भिन्न जिज्ञासाओं के उत्तर से स्वयं फलित होती हैं। एक वस्त्र विशेष के लिए पूछने वालों को हम उनकी जिज्ञासाओं के अनुसार ये भिन्न-भिन्न उत्तर दे सकते हैं—

(१) यह वस्त्र रुई का है।
(२) यह वस्त्र मिल का है।
(३) यह वस्त्र नरेन्द्र का है।
(४) यह वस्त्र पहनने का है।
(५) यह वस्त्र पांच रुपये का है।

अब बतलाइए यह वस्त्र किस-किस का समझा जाए ? किसी एक का या पांच का ? इन पांच कथनों में से कोई भी कथन ऐसा नहीं, जिसे अप्रमाणित कहा जा सके। पांचों ही बातें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उसी एक वस्त्र के विषय में सत्य हैं। पांच ही क्यों ? दो गज का है, भारत का है, सन् १९५५ का है आदि और भी अनेक बातें उसके विषय में कही जा सकती हैं और सबकी सब समान रूप से सत्य हो सकती हैं। इनमें से प्रत्येक कथन वस्त्र सम्बन्धी कोई-न-कोई जानकारी देता है। एक वाक्य में जो बात कही गई है, दूसरे प्रत्येक वाक्य में उससे भिन्न बात कही गयी है। फिर भी इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। विरोध इसलिए नहीं है कि प्रत्येक की अपेक्षाएं भिन्न हैं। वह वस्त्र उपादान-कारण की अपेक्षा से रुई का, तो सहकारी-कारणों की अपेक्षा से मिल का और स्वामित्व की अपेक्षा से नरेन्द्र का, कार्यक्षमता की अपेक्षा से पहनने का तथा मूल्य की अपेक्षा से पांच रुपये का है। प्रश्नकर्त्ताओं की ये जिज्ञासाएं—यह वस्त्र रुई का है या रेशम का ? मिल का है या हाथ का ? नरेन्द्र का है या वीरेन्द्र का ? पहनने का है या ओढ़ने का ? कितने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल्य का है?— उत्तरदाता को भिन्न-भिन्न उत्तर देने के लिए ही प्रेरित करती हैं। किसी एक उत्तर से सारी जिज्ञासाएं शान्त नहीं हो सकतीं।

साधारण लोक-व्यवहार में अपेक्षा भेद से कथन का यह प्रकार जितना मौलिक, उचित और सत्य है, उतना ही दार्शनिक क्षेत्र में भी। उपर्युक्त वस्त्र-सम्बन्धी ज्ञान में एकान्तवादिता सत्य से जितनी दूर ले जा सकती है, तत्त्वज्ञान सम्बन्धी एकान्त-वादिता भी उतनी ही दूर ले जाती है, अतः दार्शनिक क्षेत्र में भी 'स्याद्वाद' (अपेक्षावाद) का प्रयोग आदरणीय ही नहीं, अनिवार्य भी है।

जैनेतर दार्शनिकों का तर्क

जैनेतर दार्शनिकों का स्याद्वाद के विषय में एक खास तर्क यह रहा है कि यदि पदार्थ 'सत्' है तो 'असत्' कैसे हो सकता है? इसी प्रकार नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य आदि परस्पर विरोधी धर्म एक ही समय में एक पदार्थ में कैसे टिक सकते हैं? इसी तर्क के आधार पर शंकराचार्य और रामानुजाचार्य जैसे विद्वानों ने 'स्याद्वाद' को 'पागल का प्रलाप' कहकर इसकी उपेक्षा की, राहुल सांकृत्यायन ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दों के आधार पर दही, दही भी है और ऊंट भी, तो दही खाने के समय ऊंट खाने को क्यों नहीं दौड़ते? इस आशय का कथन कर स्याद्वाद का उपहास किया है। डॉ० एस० राधाकृष्णन् ने इसे 'अर्द्ध सत्य' कहकर त्याज्य बताया है, इसी प्रकार किसी ने इसे 'छल' और किसी ने 'संशयवाद' बतलाया है। परन्तु यह सब तो 'प्रत्येक विभिन्न कथन के साथ विभिन्न अपेक्षा होती हैं'—स्याद्वाद के इस सूत्र को हृदयंगम न कर सकने के कारण हुआ है। बद्धमूल धारणा तथा जैनेतर ग्रन्थों में जैन के लिए किये गए कथन को सत्य मानकर चलना भी इसमें सहायक हुए हैं। अन्यथा अपेक्षा भेद से 'सत्' अर्थात् 'है' और 'नहीं है' का कथन विरुद्ध मालूम नहीं देना चाहिए।

भिन्न हैं अपेक्षाएं

वस्त्र की दुकान पर किसी ने दुकानदार से पूछा—'यह वस्त्र सूत का है न?' दुकानदार ने उत्तर दिया—'हां साहब, यह सूत का है।' दूसरे व्यक्ति ने आकर उसी वस्त्र के विषय में पूछा—'क्यों साहब, यह वस्त्र रेशम का है न? दुकानदार बोला—'नहीं, यह रेशम का नहीं है।' यहां कथित वस्त्र के लिए 'यह सूत का है', यह बात जितनी सत्य है, उतनी ही 'यह रेशम का नहीं है' यह भी सत्य है। एक ही वस्त्र के विषय में सूत की अपेक्षा से 'सत्' अर्थात् 'है' और रेशम की अपेक्षा से 'असत्' अर्थात् 'नहीं है' का कथन किसको अखर सकता है? 'स्याद्वाद' भी तो यही कहता है। 'सत् है तो वह असत् कैसे हो सकता है?' यह शंका तो ठीक ऐसी ही है कि 'पुत्र है तो वह पिता कैसे हो सकता है?' परन्तु वह अपने पिता का पुत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तो अपने पुत्र का पिता भी हो सकता है। इसमें कोई विरुद्धता नहीं आ सकती, क्योंकि अपेक्षाएं भिन्न हैं।

स्याद्वाद : चार दृष्टियां

स्याद्वाद के मतानुसार प्रत्येक पदार्थ 'स्व' द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'सत्' है तथा पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'असत्'। इसे सरलतापूर्वक यों समझा जा सकता है—एक घड़ा स्व-द्रव्य मिट्टी की अपेक्षा से सत्—अस्तित्व युक्त है, पर द्रव्य—वस्त्रादि इतर वस्तुओं की अपेक्षा से असत् है अर्थात् घड़ा, घड़ा है, वस्त्र नहीं।

द्रव्य के समान ही किसी बात की सत्यता में क्षेत्र की अपेक्षा भी रहती है। कोई घटना किसी एक क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य हो सकती है। जैसे—भगवान् महावीर का निर्वाण 'पावा' में हुआ। भगवान् के निर्वाण की यह घटना 'पावा' क्षेत्र की अपेक्षा से ही सत्य—सत् है, परन्तु यदि कोई कहे 'भगवान् का निर्वाण राजगृह में हुआ' तो यह बात असत्य ही कही जाएगी।

द्रव्य और क्षेत्र के समान ही पदार्थ की सत्ता और असत्ता बताने के लिए काल की भी अपेक्षा है, जैसे—आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात संवत् २००५ में किया। इसके अतिरिक्त किसी काल का कथन किया जाए तो वह अणुव्रत-आन्दोलन के सम्बन्ध में सत्यता प्रकट नहीं कर सकता।

इसी प्रकार वस्तु की सत्यता में भाव भी अपेक्षित हैं, जैसे—पानी में तरलता होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तरलता नामक भाव से ही पानी की सत्ता पहचानी जा सकती है, अन्यथा तो वह हिम, वाष्प या कुहरा ही होता, जो कि पानी नहीं, किन्तु उसके रूपांतर हैं।

स्व-धर्मों की सत्ता : परधर्मों की असत्ता

उपर्युक्त प्रकार से हम जान सकते हैं कि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से ही है, परद्रव्य, परकाल और परभाव की अपेक्षा से नहीं। यदि परद्रव्य आदि से भी उसकी सत्ता हो सकती तो एक ही वस्तु सब वस्तु होती और सब क्षेत्र, सब काल और गुणयुक्त भी होती अर्थात् एक घड़ा मिट्टी का भी कहा जा सकता और सोने-चांदी, लोहे आदि का भी। कानपुर का भी कहा जा सकता और दिल्ली का भी। संवत् २००५ का भी कहा जा सकता और संवत् २००० का भी। जलाहरण के काम में भी लिया जा सकता और पहनने के काम में भी।

परन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें स्वधर्मों की सत्ता के समान ही परधर्मों की असत्ता भी विद्यमान है। स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से घट में 'अस्ति' शब्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विषय बनने की जितनी योग्यता है, उतनी ही परद्रव्यादि की अपेक्षा से 'नास्ति' शब्द का विषय बनने की भी। यही कारण है कि घड़े का स्वरूप विधि और निषेध—दोनों से प्रकट होता है।

विचार-क्षेत्र में बहुमूल्य अवदान

उपर्युक्त 'सत्-असत्' अर्थात् 'अस्ति-नास्ति' अर्थात् 'विधि-निषेध' के आपेक्षिक कथन के समान ही वस्तु में सामान्य-विशेष, एक-अनेक आदि विभिन्न धर्मों का भी आपेक्षिक अस्तित्व समझना चाहिए।

भगवान् महावीर ने जगत् को जीवन-क्षेत्र में अहिंसा की जितनी बहुमूल्य देन दी है, विचार-क्षेत्र में भी 'स्याद्वाद' की उतनी ही बहुमूल्य देन दी है। अहिंसा जीवन को उदार और सर्वांगीण बनाती है तो स्याद्वाद विचारों को। एकांगी विचार अपूर्ण और वास्तविकता से दूर होता है, जबकि सर्वांगीण विचार पूर्ण और वास्तविक होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समन्वय की ओर

परिवर्तित, फिर भी अपरिवर्तित

जैन धर्म का दृष्टिकोण मूलतः समन्वयवादी रहा है। जैन-दर्शन की स्याद्वाद प्रणाली यही संकेत करती है। जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ को अनन्त धर्मों-स्वभावों से युक्त मानता है। उन स्वभावों में अनेक ऐसे भी हैं, जो साधारण दृष्टि से परस्पर सर्वथा विपरीत प्रतीत होते हैं। उनका सहावस्थान अन्य अनेक दर्शनिकों की दृष्टि में असम्भव है, परन्तु स्याद्वादी के लिए वह कोई असम्भव तो है ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। वस्तु में कौन-कौन से स्वभाव होने चाहिए, यह निर्णय देने का किसी को अधिकार नहीं है, इसके विपरीत वस्तु में कौन-कौन से स्वभाव हैं, यही सब सत्य-गवेषकों के लिए अन्वेषणीय होता है। उस अन्वेषण में यदि विरोधी धर्मों का सहावस्थान प्राप्त होता है, तो फिर उस वस्तु-सत्य को इनकार करने वाले हम होते कौन हैं? अपनी जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए वस्तु-स्वभाव को उलटने का प्रयास करने के स्थान पर अपने विचार-प्रकार का ही पुनर्निरीक्षण करना आवश्यक है, जिससे वस्तु-सत्य के साथ उसका विरोध न रहे।

उदाहरण के लिए हम वस्तु के नित्यत्व और अनित्यत्व स्वभाव पर ही विचार करें। पहली दृष्टि में यह बात जंचती-सी लगेगी कि जो वस्तु नित्य होती है, वह अनित्य नहीं हो सकती और जो अनित्य होती है, वह नित्य नहीं हो सकती। परन्तु जब इसे वस्तु-विश्लेषण के प्रकाश में देखा जाता है, तब लगता है कि वस्तु का अन्तरंग नित्य होता है और बहिरंग अनित्य। कल्पना कीजिये, किसी व्यक्ति के पास सोने का एक बिस्कुट है। वह उसका कण्ठहार बनवाता है। कालान्तर में उसी कण्ठहार से कंकण और फिर उसी स्वर्ण से अंगूठियां बनवाता है। हम देखते हैं कि हर बार वस्तु के आकार में परिवर्तन आता है, परन्तु उसी के साथ यह भी देखते हैं कि हर बार वह स्वर्ण ही रहता है। इससे सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि वस्तु में कुछ अपरिवर्तनशील होता है, उसे हम वस्तु का अन्तरंग कह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं। इसी प्रकार कुछ परिवर्तनशील भी होता है, उसे वस्तु का बहिरंग कह सकते हैं। दार्शनिकों ने इन्हें क्रमशः द्रव्य और पर्याय के नाम से पुकारा है।

भाषा की असमर्थता

जब हम यह कहते हैं कि वस्तु नित्य होती है, तब हम वस्तुगत अनन्त सत्यों में से केवल एक ही का उद्घाटन करते होते हैं, इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि वस्तु अनित्य होती है, तब भी उनमें से एक ही सत्य का उद्घाटन करते होते हैं। वस्तुगत सम्पूर्ण सत्यों का उद्घाटन करना भाषा के सामर्थ्य से बाहर है, अतः कथनीय वस्तु-स्वभाव के अतिरिक्त अन्य सब स्वभावों के अस्तित्व की स्वीकृति के लिए जैन दार्शनिकों ने एक सांकेतिक शब्द चुन लिया है—'**स्यात्**'। यह शब्द कथ्य धर्म के अतिरिक्त शेष सभी धर्मों का प्रतिनिधित्व करता है। इसी शब्द के आधार पर जैन की समग्र व्याख्या-पद्धति को स्याद्वाद के नाम से पुकारा जाता है। स्याद्वाद का अर्थ है, अपेक्षावाद। अर्थात् हर वस्तु या धर्म को विभिन्न अपेक्षाओं के प्रकाश में देखना। तात्पर्य यह कि वस्तु में जितने भी विरोधी या अविरोधी धर्म हैं, वे सब विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर ही एकत्र अनुस्यूत हैं। अपेक्षाओं की उपेक्षा कर किसी भी वस्तु-सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता। इस प्रणाली के आधार पर दार्शनिकों ने परस्पर सर्वथा विरुद्ध दिखाई देने वाले दर्शनों का भी समन्वय करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। आचार्य सिद्धसेन ने भगवान् की स्तुति करते हुए इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—हे प्रभो! समुद्र में जिस प्रकार नदियां समन्वित हो जाती हैं, उसी प्रकार आप में सभी दर्शन समन्वित हो गये हैं।[1]

आचार्य हरिभद्र ने तो और भी अधिक स्पष्टता और उदारता के साथ अन्य दार्शनिकों के मन्तव्यों का समन्वयन किया है। ईश्वर कर्तृत्ववाद के विषय में वे कहते हैं—"परम ईश्वरत्व युक्त होने से आत्मा को ही ईश्वर कहा जाता है और वह कर्त्ता है। इस प्रकार कर्तृत्ववाद की व्यवस्था निर्दोष सिद्ध होती है।"[2] उन्होंने अन्य सभी दार्शनिकों के मन्तव्यों को भी इसी प्रकार अपेक्षा-भेद से सत्य स्वीकार करते हुए उनके प्रवर्तकों के प्रति आदर-भाव व्यक्त किया है।

दर्शन : व्यवहार में

जैनाचार्यों की समन्वय-भावना केवल दार्शनिक मन्तव्यों तक ही सीमित नहीं रही,

---

१. "उदधाविव सर्व सिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टयः।"

२. "परमैश्वर्य युक्तत्वान्, मत आत्मैव चेश्वरः
स च कर्तेति निर्दोषः, कर्तृवादो व्यवस्थितः।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार पक्ष में भी उन्होंने उसकी अवतारणा की। कहा जाता है कि हेमचन्द्र एक बार राजा कुमारपाल के साथ सोमनाथ मंदिर में गये और वहां स्तुति करते हुए उन्होंने कहा—"भव बीज को अंकुरित करने वाले राग और द्वेष जिसके क्षय हो गये हों, उस देव को मैं नमस्कार करता हूं। उसका नाम चाहे फिर ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जिन या अन्य कोई भी क्यों न हो।"[1]

दर्शन और व्यवहार—दोनों ही पक्षों में जैनाचार्यों ने समवन्य की भावना को सुदृढ़ किया है। जैनाचार्यों ने मतभेदों का पोषण कभी किया ही नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि मतभेद होने पर भी उन्होंने अपने कथन की अपेक्षाओं को समझाने के साथ-साथ दूसरों के कथन की अपेक्षाओं को समझने का भी प्रयास किया है। मतवाद उनके जीवन का लक्ष्य कभी नहीं रहा। उन्होंने अपना लक्ष्य साधना को ही बनाया, परन्तु उसकी सिद्धि के मार्ग में पगडण्डियों की तरह अनेक मतवादों ने जन्म लिया, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। इसे क्षेत्र और काल की अनिवार्यता भी कहा जा सकता है तथा आवश्यकता और परिस्थितियों की उत्प्रेरणा भी। इस सबके बावजूद मतवाद को गौण मानते हुए उन्होंने मुख्यतः साधना पर ही बल दिया। पूर्णता के लिए मत, परम्परा या वेश आदि को नहीं, किन्तु साधना से उद्दीप्त आत्मा के समताभाव को ही उन्होंने मूल कारण माना। "जैन हो या बौद्ध, श्वेताम्बर हो या दिगम्बर या फिर इन सबसे भिन्न किसी अन्य मत या सम्प्रदाय को मानने वाला ही क्यों न हो, यदि उसने अपने आपको समभाव से भावित किया है तो निश्चय ही उसको मोक्ष की प्राप्ति होगी।"[2] आचार्य हरिभद्र के ये शब्द मतवाद के स्थान पर साधना को ही पुष्ट करने वाले हैं।

प्रक्रिया गौण, साधना मुख्य

साधना की लम्बी प्रक्रिया में अनेक स्थानों पर मतभेद हो सकता है, किन्तु जब तक वह गौण और साधना मुख्य रहती है, तब तक कोई भय की बात नहीं। मतभेद सर्वथा बुराई ही पैदा नहीं करता, वह तत्त्व-बोध में सहायक भी हो सकता है। शर्त एक ही है कि अपने पर उसका नशा नहीं होना चाहिए। नशा होते ही मतभेद मतवाद का रूप ले लेता है और फिर समन्वय के द्वार बन्द हो जाते हैं। दो विभिन्न

---

१. "भव बीजांकुर जनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य,
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै।"

२. "सेयंबरो व आसंबरो व बुद्धो व तह अन्नो वा,
समभाव भाविअप्पा, लहइ मोक्खं न संदेहो।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन्तव्यों के सहावस्थान का आधार खोज निकालना ही तो समन्वय है। मतवाद उसे कभी पसंद नहीं करता। वह एकाकी रहने में ही अपना कल्याण मानता है।

माध्यम समन्वय का

प्रत्येक जैन को स्याद्वाद की घुट्टी के साथ ही समन्वय की भावना स्वतः प्राप्त हो जाती है। पूर्वाचार्यों ने उस भावना को मांजकर और भी उज्ज्वल तथा सुसंस्कृत बनाया है। फलस्वरूप उसे मांजते रहने का संस्कार भी सबको विरासत में प्राप्त हुआ है। इतना होने पर भी परस्पर के अनेक मतभेद ऐसे हैं, जो मतवाद की सीमा में प्रविष्ट हो चुके हैं। उनके समन्वयन तथा विलयन का अभी तक कोई मार्ग नहीं निकल पाया है। स्याद्वाद पर आस्था रखने वालों के लिए यह कोई गौरव की बात नहीं, अपितु लज्जा की ही बात है।

जैनेतर मान्यताओं के साथ समन्वय की बात करना तब तक एक बहुत बड़ा दम्भ ही होगा, जब तक कि स्वयं जैन मान्यताओं में समन्वय के सूत्र नहीं खोजे जाते। विभिन्न जैन सम्प्रदायों में परस्पर जितने भी प्रश्न खड़े हैं, उनको समाहित करना आज की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इन मतभेदों में अनेक ऐसे हैं, जो विलयन के योग्य हैं। वह तभी हो सकता है, जब कि पूर्णतः मतैक्य हो। अनेक मतभेद ऐसे भी हैं, जिनमें आज की स्थिति में पूर्ण मतैक्य की सम्भावना नहीं की जा सकती, फिर भी उनमें समन्वयन तो किया ही जा सकता है। उनके लिए उन अपेक्षाओं को खोजना होगा, जो उनके एकाधिकरण्य का आधार बन सकती हैं।

जैन समाज अपने इस कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने के लिए आज जागरूक दिखाई देता है। भारत के स्वतन्त्र होने के साथ ही उसकी इस जागरूकता में और निखार आया है। अनेक संस्थाएं इस कार्य को आगे बढ़ाने में अपना योगदान करने को उद्यत हैं। जैनाचार्य भी अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति अधिक सचेष्ट हुए हैं। वे एकता और समन्वय के इस पथ पर जनता का पथ-दर्शन करने को उन्मुख हैं।

सबका दायित्व

आचार्यश्री तुलसी ने जैन ऐक्य के लिए प्रेरणा देते हुए प्रथम चरण न्यास के रूप में एक त्रिसूत्री योजना जैन समाज के सम्मुख रखी थी। उसकी प्रायः सर्वत्र अच्छी प्रतिक्रिया हुई, कार्य आगे बढ़ा। फलस्वरूप दिल्ली में दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी, इन तीन सम्प्रदायों के आचार्यों का सम्मेलन हुआ। संविग्न सम्प्रदाय के कोई आचार्य उस समय दिल्ली में उपस्थित नहीं थे। यदि चारों सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य सम्मिलित हो पाते, तो वह सम्मेलन और भी व्यापक होता। फिर भी वह शुभारम्भ समन्वय और एकता की दिशा में एक कदम और आगे बढ़ने का कार्य तो था ही। उसमें सर्व सम्मति से कुछ निर्णय किये गये। यद्यपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे अन्तिम नहीं थे, फिर भी समन्वय की प्रथम सामूहिक अभिव्यक्ति के द्योतक होने के साथ-साथ वातावरण में एक नया उत्साह और नयी प्रेरणा उत्पन्न करने वाले थे। यद्यपि वह घोषणा परिणति के समय परिपूर्णता के साथ लागू नहीं की जा सकी, फिर भी यह आशा तो बंधी ही कि अगली बार जो निर्णय किये जायेंगे, उनमें उन बातों पर भी विस्तृत विचार किया जायेगा, जिन पर पिछली बार नहीं किया जा सका।

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट स्याद्वाद की छत्र-छाया में पूर्वाचार्यों द्वारा परिपुष्ट समन्वय की इस भावना को आगे बढ़ाने का पवित्र कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व वर्तमान जैनाचार्यों का तो है ही, परन्तु साथ में श्रमण वर्ग तथा श्रावक वर्ग का सहयोग भी उतना ही अपेक्षणीय है। आचार्यों के निर्णय को वास्तविकता में परिणत करने का उत्तरदायित्व वस्तुतः उन्हीं पर होता है। कार्य की गुरुता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह सब तत्काल होने वाला नहीं है, फिर भी इसकी आवश्यकता बतलाती है कि इसमें जितनी शीघ्रता की जायेगी, जैन-समाज का उतना ही अधिक कल्याण होगा। कठिन से कठिन कार्य भी दृढ़ निश्चय और व्यवस्थित क्रम से करने पर सहज हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा : एक अनुचिंतन

परम धर्म

अहिंसा सब प्राणियों के लिए क्षेमकरी है, इसलिए उसे परम धर्म कहा जाता है। एकेंद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक के सभी प्राणी जीने की आकांक्षा करते हैं, मरना किसी को प्रिय नहीं होता, इसीलिए हिंसा को घोर दुष्कर्म माना जाता है[1] अहिंसा की साधना सभी प्राणियों के साथ मित्रता की साधना है। भगवान महावीर ने स्थान-स्थान पर अपने उपदेश में इस बात को दुहराया है कि किसी भी प्राणी का वध मत करो। किसी को पीड़ा और परिताप भी मत पहुंचाओ, यहां तक कि किसी के प्रति बुरा मत सोचो। इससे भी आगे इतना और कि किसी के द्वारा किसी के प्रति किए गये बुरे चिन्तन की मन से भी अनुमोदना मत करो, क्योंकि वह भी हिंसा है।

अहिंसा आत्म-गुण है और हिंसा आत्म-दोष, किन्तु प्राणिवध या प्राणि-परिताप आदि में मापदंड बनता है दूसरा प्राणी। इसलिए किसी के मरने या न मरने के आधार पर हिंसा या अहिंसा का जो विचार किया जाता है, वह स्थूल एवं व्यवहार-मात्र ही होता है। निश्चय के आधार पर आत्मा की प्रमत्त अवस्था को हिंसा तथा अप्रमत्त अवस्था को अहिंसा कहा जाता है।[2]

प्रथम धर्म

जैन धर्म में अहिंसा व्रत को सब व्रतों में प्रथम और मूल माना गया है। जिस व्यक्ति में अहिंसा का अवतरण होता है, उसी में अन्य गुणों का अवतरण संभव है,

---

१. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं —दसवेआलियं ६/१०

२. आया चेव अहिंसा, आया हिंसत् निच्छिओ एस
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो—विशेषावश्यक भाष्य ३५३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य किसी में नहीं, इसलिए यहां तक कहा गया है कि मूलतः अहिंसा ही एकमात्र व्रत है। शेष सारे व्रत तो उसी के संरक्षण के लिए हैं।[1] तात्पर्य यह है कि धर्म का प्रत्येक रूप अहिंसा से ही प्रारंभ होता है। उसका सूक्ष्म या आन्तरिक स्वरूप है अप्रमत्तता तथा स्थूल या बाह्य रूप है प्राणियों के प्रति सदयता। स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करता हुआ साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

शाश्वत एवं व्यवहार्य

अहिंसा नीति-धर्म न होकर आत्म-धर्म है, अतः वह शाश्वत धर्म है। नीतियां आवश्यकतानुसार बदलती रहती हैं। वे समाज की तात्कालिक समस्या को हल करने के लिए बनाई या बदली जाती हैं, किन्तु आत्म-धर्म सदा एक रूप में रहता है। न उसे कभी बनाया जा सकता है और न बदला। फिर भी प्रत्येक तीर्थंकर अपने युग में धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं और महाव्रत तथा अणुव्रत के रूप में अहिंसा-धर्म का उपदेश देते हैं। उसमें न धर्म नया होता है और न उसकी व्याख्या, परन्तु उस युग में उन महान् आत्माओं के द्वारा संस्थापित या व्याख्यात होने की अपेक्षा से उसे नया कह दिया जाता है।

वर्तमान अवसर्पिणी-काल में अहिंसा-धर्म की स्थापना में सर्वप्रथम भगवान ऋषभ का नाम आता है। वे इस युग के प्रथम योगी थे। उन्होंने स्वानुभूति के आधार पर पूर्ण अहिंसा-धर्म को आत्मसात् कर साधना के सोपानों पर चढ़ते हुए कैवल्य प्राप्त किया। उनके उपदेशानुसार अहिंसादि व्रतों की पूर्ण साधना करने वाले साधु और साध्वी तथा यथाशक्य साधना करने वाले श्रावक और श्राविका कहलाए। इन्हीं चार प्रकार के साधकों को आधार बनाकर नामकरण हुआ—**'चतुर्विध धर्मसंघ'** अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में संघात्मक स्थिति से अहिंसा की साधना करने का पौराणिक ग्रन्थों में यह प्रथम वर्णन मिलता है।[2]

दूसरा वर्णन भगवान नेमिनाथ का मिलता है। वे श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। अपने विवाह के अवसर पर कन्यापक्ष वालों की ओर से भोज के लिए एकत्रित किये गये पशुओं को देखकर उनका मन कंपित हो उठा। भोजन के निमित्त की जाने वाली उस संभावित हिंसा को अपने लिए अनिष्ट मानकर उन्होंने विवाह करने से ही इनकार कर दिया। उसी समय वे वापस अपने नगर चले गये और अहिंसात्मक धर्मसंघ के प्रतिष्ठाता बने। उपनिषद् में घोर आंगिरस को श्रीकृष्ण का गुरु बतलाया गया है। उन्होंने श्रीकृष्ण को आत्मयज्ञ की शिक्षा दी और

---

१. एक्कच्चिय एत्थ वयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइक्य-विरमण, मवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥

२. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २, सूत्र ४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपश्चर्या, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य को उस यज्ञ की दक्षिणा बतलाया।[1] कहा जाता है कि वे घोर आंगिरस अन्य कोई नहीं, भगवान नेमिनाथ ही थे।

तीसरा वर्णन भगवान् पार्श्वनाथ का उपलब्ध होता है। भगवान् नेमिनाथ को कुछ इतिहासकार ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं तो कुछ प्राग्-ऐतिहासिक, परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ को सभी ऐतिहासिक मानते हैं। उन्होंने अपने द्वारा निर्दिष्ट चातुर्याम धर्म के माध्यम से अहिंसा को जन-जीवन में व्यवहार्य रूप प्रदान किया।

भगवान् महावीर ने अहिंसा को ऐसा निखार दिया कि वह जन-मानस में रच-पच गई। यज्ञादि में हिंसा को मान्य करने वालों को भी '**अहिंसा परमोधर्मः**' जैसे सूत्र वाक्यों का निर्माण करना पड़ा। संसार आज भगवान् महावीर का आभारी है कि उन्होंने उसे आत्म-कल्याण और जीवन-व्यवहार के लिए एक प्रशस्त एवं शाश्वत धर्म का मार्ग-दर्शन दिया।

वर्तमान के लिए

अहिंसा-धर्मियों के लिए वर्तमान काल एक परीक्षा का काल है। चारों ओर से बढ़ रही हिंसा का निरसन वे तभी कर सकते हैं जब पहले स्वयं के जीवन में उसे गंभीरता से लागू करें। जिस धर्म ने पेड़-पौधों तक अपनी दया का विस्तार किया था, आज उसमें न्यूनता दृष्टिगत होने लगी है। पशु-पक्षियों के प्रति निर्दय व्यवहार करने वालों की संख्या कम नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य के प्रति भी सदय विचार नहीं किया जा रहा है। उसकी हत्या भी आज किसी को जल्दी से कंपित नहीं करती। शोषण, मिलावट, प्रवंचना आदि के द्वारा मनुष्य ही मनुष्य के प्रति जो अपराध कर रहा है, वह सब हिंसा का ही तो एक अंग है। अहिंसा को समृद्ध देखने की कामना करने वालों के लिए यह आत्म-निरीक्षण का समय है। दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा के समान देखने वाले ही अहिंसा की भावना को आगे बढ़ा सकते हैं।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् ३, १७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज के परिप्रेक्ष्य में 'अहिंसा'

'अहिंसा' के विषय में मात्र आज के परिप्रेक्ष्य में चिंतन नहीं हो सकता। पिछले इतिहास को भी जानना होगा और उसके साथ-साथ भविष्य के लिए भी सोचना होगा। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों समय को सम्मिलित कर सोचें तभी इस विषय की सार्थकता होगी। अहिंसा जीवन है और जीवन इन तीनों काल से प्रभावित होता है।

अमृत है अहिंसा

वस्तुतः अहिंसा जीवन के लिए अमृत है। क्या अहिंसा के बिना जीवन का कोई अस्तित्व हो सकता है? अहिंसा के बिना शान्त जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। इसके बिना सह-अस्तित्व, सौहार्द और समन्वय जैसे मूलभूत तत्त्व भी समाज में विकसित नहीं होंगे। अहिंसा के आवरण से ही यह सब संभव है। इसीलिए अहिंसा के आचरण को जीवन में उतारना अमृतपान है। आज तक मनुष्य इसीलिए जीवित है कि उसने दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार किया है। एक साथ सैकड़ों लोग बैठकर ऐसे विषय पर चिन्तन कर सकते हैं। समस्याओं के बारे में सोच सकते हैं। एक साथ हम कुत्तों को इस तरह नहीं बिठा सकते। मिलकर बैठना तो क्या, गली के कोने पर भी कोई आता दिखाई दे तो उस गली के कुत्ते उस पर हमला बोल देंगे। कुत्तों का यह स्वभाव सुरक्षा की दृष्टि से उपयोगी माना जाता है। मगर सामूहिकता में इस दृष्टि से काम नहीं चलता। पारस्परिक सौहार्द के लिए अहिंसा आवश्यक होती है। सज्जनता अहिंसा के माध्यम से आती है।

चिन्तन की गहराई में

बहुत लोग सोचते हैं कि मनुष्य लड़ता आया है। उसने आज तक हजारों लड़ाइयां लड़ी हैं। कई ऐसे झगड़े कि उनका विवरण सुनकर भी रोंगटे खड़े होते हैं। किन्तु इन सबसे निराश हों, ऐसी बात नजर नहीं आती। मनुष्य मिलकर अधिक रहा है उसके अनुपात में लड़ा कम है। लड़ाई का उद्गम भी तो शान्ति स्थापित करने को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। लड़-झगड़ कर भी तो अंततः समझौता ही होता है, शान्ति-वार्ता होती है। अहिंसा स्थापित करने के प्रयत्न हमें आशावान बनाते हैं।

हम गहराई से खोजें। किनारे पर बैठकर समुद्र की गहराई का पता नहीं लगता। वहां तो सीप, कंकड़, घोंघे आदि ही हाथ लगेंगे। मोती उन्हें मिलते हैं जो गहरी डुबकी लगाते हैं। गहरे चिंतन से यह तत्त्व हाथ लगेगा कि मनुष्य ने सदैव अहिंसा को महत्त्व दिया है।

बचाव का एक ही रास्ता

मनुष्य शांति चाहता है। यही आशा की एक झलक है। वह शस्त्रास्त्र इकट्ठा करता है मगर कहता यही है कि शान्ति और सुरक्षा के लिए वह ऐसा कर रहा है। उसे भय है। किस बात का है वह भय। हिंसा का, विनाश का। कोई उस पर आक्रमण न कर दे। प्रतिरोधात्मक शक्ति चाहिए जिससे हिंसा टल सके। फिर चाहे किसी कारण से हो, भय से हो, है तो समझौते से जीने की बात। यही तो अहिंसा का कदम है। अहिंसा की वृत्ति काम कर रही है। अन्यथा हिंसा का एक कदम विनाश के लिए पर्याप्त है। इतने परमाणु अस्त्र-शस्त्र एकत्रित किए जा चुके हैं कि संसार को बीस बार खत्म किया जा सकता है। मगर सब जानते हैं कि अहिंसा से ही बचाव संभव है। एक ही रास्ता है यह। मैत्री भाव को विकसित करें। एक-दूसरे राष्ट्र के अस्तित्व को स्वीकार करें। हर मन में मैत्री अंकुरित हो तो बचाव संभव है। विश्वास उत्पन्न होगा तो विनाश के साधन अधिक नहीं बनेंगे और जो है उनमें से कम किए जा सकेंगे।

मन पवित्र हो

आइंस्टीन ने कहा था कि चौथा विश्व युद्ध तो पत्थरों और लाठियों से ही लड़ा जाएगा। तीसरे युद्ध में सब कुछ नष्ट हो जाएगा। कोई अगर कंदराओं में छुपकर बच गए तो उनके पास कोई अस्त्र-शस्त्र शेष न रहेंगे। हिंसा के परिणाम को इससे आंका जा सकता है।

मानव मानव को समझना होगा कि दूसरे को बुरा कहकर मैं ऊंचा नहीं बन सकूंगा। दूसरे को समान मानने वाली बात अहिंसा से ही आएगी। महावीर ने कहा—**'मित्ती मे सव्व भूएसु, वैरं मज्झं न केणई'**। सब जीवों से मित्रता, किसी से भी वैर नहीं। यह निर्वैर भावना मात्र वाणी की बात न हो। वाणी की बात मात्र अभिनय होगी। मन की बात कर्म से होगी। मन पवित्र हो, करुणामय हो।

अध्यात्म की ऊंचाई : संसार का अस्तित्व

सर्वनाश की तैयारियां करते विश्व को महावीर का संदेश आज भी सही मार्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिखा रहा है। आवश्यक है सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र। विशुद्ध दृष्टि, विशुद्ध बोध और विशुद्ध आचरण। महावीर ने तो इसे जीव की मुक्ति का मार्ग बताया। पर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी व्यक्ति-व्यक्ति की स्वतंत्रता भी इसके बिना संभव नहीं।

आज के परिप्रेक्ष्य की क्या कहें, अभी इसी क्षण में गहराई से चिंतन करें। क्या मनुष्य समाज अहिंसा के बिना टिक सकता है ? कहीं थोड़ी भी हलचल होती है तो सारा विश्व जुट जाता है, शांति प्रयासों की दिशा में। आज जो यह प्रश्न करते हैं कि क्या किया है अहिंसा ने ? उनसे मेरा प्रतिप्रश्न है, क्या किया है 'हिंसा' ने ? यही न कि मनुष्य के कुछ भाग को समाप्त किया। कुछ समय तांडव किया। इन्सान को जानवर बनाया और फिर लौटकर वही अहिंसा की शरण में आया।

अध्यात्म की ऊंचाइयां भी अहिंसा से ही मिलती हैं। दूसरी ओर संसार का अस्तित्व भी इसी से है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरण-प्रविभक्ति

काल एक तन्तुवाय है, जो हमारे जीवन के ताने के साथ मरण का बाना बुनता जा रहा है। यह बुनाई धीरे-धीरे आगे बढ़ती जाती है। थोड़ा-सा ध्यान दें, तो अपने ही शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों को देखकर हम इसे अच्छी तरह से समझ भी सकते हैं। जिस क्षण यह बुनाई समाप्त हो जायेगी, उसी क्षण हमारी भव-यात्रा का यह एक 'थान' समेट-सहेज कर रख दिया जायेगा और फिर दूसरा ताना-बाना प्रारम्भ कर दिया जायेगा। इस प्रकार **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं'** का यह क्रम अनादि काल से चलता आया है और आगे भी तब तक चलता रहेगा, जब तक कि उसे भंग कर देने वाली कोई स्थिति उत्पन्न नहीं कर दी जायेगी।

जीवन, जन्म और मृत्यु

जीवन का प्रारम्भ जन्म से होता है और पर्यवसान मृत्यु से। वस्तुतः ये तीनों एक ही प्रक्रिया के विभिन्न अंग हैं। इस प्रक्रिया के ओर तथा छोर को क्रमशः जन्म तथा मृत्यु कहा जाता है, जबकि मध्य को जीवन। समय की दृष्टि से जीवन की अवधि अपेक्षाकृत लम्बी होती है, किन्तु जन्म और मृत्यु की अत्यन्त छोटी। छोटी भी इतनी कि स्वयं जन्मने या मरने वाले को उस क्षण का कदाचित् भान तक हो पाना भी सम्भव नहीं है। सम्भवतः यही वह प्रबलतम कारण है, जिससे कीट-पतंग से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणी जीवन से अत्यन्त प्यार करते हैं और हर सम्भव उपाय से उसकी सुरक्षा करते हैं।

साधारणतया किसी भी प्राणी को यह पता नहीं होता कि जन्म से पूर्व वह कहां था और मृत्यु के पश्चात् कहां होगा। उसे यह पता भी नहीं होता कि वह कौन-सा कारण है, जिससे वह किसी अज्ञात क्षेत्र से आकर जन्म के द्वार से इस जीवन में प्रविष्ट हुआ है तथा क्यों फिर मृत्यु के द्वार से उसी अज्ञात क्षेत्र में पुनः चला जायेगा। उसके सम्मुख तो केवल जीवन ही प्रत्यक्ष होता है, अतः उसी की सुरक्षा में अपनी समग्र शक्ति लगा देने में वह अपना कल्याण समझता है। मृत्यु से वह इसलिए घबराता है कि वह उसे जीवन से विमुक्त कर देती है। जन्म से उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई भय नहीं लगता, क्योंकि वह घटना उसके साथ घटित हो चुकी है। जो हो चुका होता है और निःशेष रूप से हो चुका होता है, उसके विषय में कोई भय शेष नहीं रह जाता। भय तो उसी से है, जो घटित होने को शेष है। वह भय तब तीव्रतर या तीव्रतम हो जाता है, जबकि भावी घटना की अनुकूलता या प्रतिकूलता पूर्णतः अन्धकाराच्छन्न होती है।

जन्म और मरण, एक दूसरे के पूरक

मृत्यु से घबराने का एक दूसरा कारण यह भी है कि अधिकांश व्यक्तियों का ध्यान जीवन पर ही केन्द्रित रहता है। मृत्यु के विषय में कुछ सोचा जा सकता है या सोचना आवश्यक है, इस पहलू से वे पूर्णतः अनभिज्ञ ही रहते हैं। इसलिए जिस आस्था और पुरुषार्थ के साथ वे जीवन की तैयारी करते हैं, मरण की नहीं कर पाते। मरण की तैयारी करने की बात अनेक लोगों को विचित्र लग सकती है, परन्तु गहराई से सोचने पर उसकी आवश्यकता से कोई इनकार नहीं कर सकता। जीवन-पट को अपने पूर्ण विस्तार की स्थिति तक फैला देना ही पर्याप्त नहीं होता, उसे समेटने की कला भी आनी चाहिए। किसी भी कार्य का प्रारम्भ कर उसकी पूर्ति को भवितव्यता पर छोड़ देना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है, तो फिर जीवन की पूर्ति को ही भवितव्यता पर क्यों छोड़ देना चाहिए? उसकी भी वैसे ही व्यवस्थित तैयारी की जानी चाहिए, जैसी की अन्य कार्यों में की जाती है। जागरण के पश्चात् जिस उत्साह से मनुष्य प्रातः काल अपना कार्य प्रारम्भ करता है, क्या थक जाने पर रात को उसी उत्साह से वह शयन की तैयारी नहीं करता? जागरण और शयन एक-दूसरे के पूरक होते हैं, वैसे ही जन्म और मरण भी।

जन्म के विषय में हम अपनी ओर से कुछ भी चुनाव नहीं कर सकते। स्थान, समय, प्रकार आदि सब कुछ दैवायत्त होता है, परन्तु मरण के विषय में यह बात उतनी कठोरता से लागू नहीं होती। कुछ रूपों में हम अपने मरण के विषय में चुनाव कर सकते हैं। महारथी कर्ण ने '**दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्**' इस कथन के द्वारा यह स्पष्ट किया है, कि मेरा जन्म किस कुल में हो, यह तो दैवाधीन था, परन्तु जीवन में मुझे जो कुछ बनना था, उसके अनुरूप पौरुष करना मेरे अपने अधीन था। मैंने उसी पौरुष के बल पर अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। हम यहां इतना और बढ़ा सकते हैं कि जीवन जी लेने के पश्चात् हमें किस प्रकार से मरना है, इसका चुनाव करना भी हमारे अपने अधीन है। जीवन को सुचारु रूप से जीने के उपाय हमारे लिए उपयुक्त हैं, तो सुचारु रूप से उसकी समाप्ति—मरण के उपाय भी हमारे लिए गवेषणीय और उपयोजनीय हैं। जन्म ग्रहण करने के साथ ही इतना तो सुनिश्चित हो जाता है कि उसकी मृत्यु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवश्यम्भावी है।[1] प्रश्न इतना ही शेष रह जाता है कि जीवन की तरह क्या हम अपनी मृत्यु को भी सफल बनाने की सोच सकते हैं ?

मृत्यु की आकांक्षा : समाधिमरण

साधारणतया अध्यात्म-क्षेत्र में जीवन और मरण, इन दोनों की ही आकांक्षा वर्जनीय है।[2] इन दोनों की भावनाओं से ऊपर उठकर तथा इन दोनों में समान भाव साधकर रहना ही साधक के लिए उद्दिष्ट है। परन्तु विशिष्ट स्थितियों में मृत्यु की आकांक्षा भी विहित है।[3] ऐसे समय में 'संलेखना' के द्वारा समाधिमरण प्राप्त करने को 'पण्डितमरण' कहा गया है। निराशा, भय, असफलता तथा कषायादि वश जीवन को समाप्त कर डालना 'आत्म-हत्या है। उसे शास्त्रकारों ने 'बाल मरण' कहा है। पण्डित-मरण या समाधि-मरण की प्रक्रिया उससे सर्वथा भिन्न होती है। मुमुक्षु के लिए शरीर का महत्त्व तभी तक है, जब तक वह समता मूलक संयम की आराधना में सहायक बनता है। तदनंतर जीर्ण वस्त्र के समान अनासक्त भाव से उसका विसर्जन ही श्रेयस्कर माना गया है।[4] विषय-कषायादि में आसक्त मनुष्य जहां जन्म का उत्सव मनाते हैं, वहां संसार-विरक्त मनुष्य अपनी मृत्यु का उत्सव मनाते हैं। जो मृत्यु सांसारिकों के लिए भय का कारण बनती है ज्ञानियों के लिए वही प्रमोद का कारण बन जाती है।[5]

नित्य मरण : तद्भव मरण

सैद्धांतिक भाषा में आयुष्य, इन्द्रिय, मन, वचन, काया और श्वासोच्छ्वास-बल रूप प्राणों के संयोग का नाम जन्म है, तथा उनके सर्वथा क्षीण हो जाने का नाम मरण। जन्म के पश्चात् एवं मरण के पूर्व आयुष्य आदि का जो प्रतिक्षण भोग व निर्जरण होता रहता है, उसे जीवन कहा जाता है। दिगम्बराचार्य अकलंक ने प्रतिक्षण होने

---

१. जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च —गीता २-२७

२. (क) जीवियं नाभिकंखेज्जा, मरणं नाविपत्थए। —आचारांग-८-८-४
(ख) नाभिनन्देत मरणं, नाभिनन्देत जीवितम्।
—महाभारत, शांतिपर्व २४५-१५

३. तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमंतिए।
विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स कंखए। —उत्तराध्ययन-५-३१

४. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।—गीता-२-२२

५. संसारासक्तचित्तानां, मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनःसोऽपि, ज्ञान-वैराग्यवासिनाम्॥ —मृत्यु महोत्सव-१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले ह्रास की दृष्टि से इस जीवन को भी मरण का ही एक भेद माना है। उनके अनुसार मरण के दो भेद हैं—नित्य मरण और तद्भव-मरण। प्रतिक्षण आयुष्य आदि का जो ह्रास होता है, वह नित्य-मरण है तथा प्राप्त शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भव-मरण है।[1]

विशुद्धि और उपाय

जीवन की विशुद्धि के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप विविध उपाय बतलाये गये हैं। इनके द्वारा आत्मा को भावित करते हुए प्रतिक्षण सावधानी पूर्वक आगे बढ़ने का निर्देश है। जीवन की स्वल्पकालिकता और बहुविघ्नयुक्तता सर्व-विदित है, अतः एक क्षण का भी प्रमाद किये बिना निरन्तर पूर्वकृत कर्मों की मलिनता को दूर करते रहना आवश्यक है।[2]

जीवन-समाप्ति अथवा मरण-प्राप्ति का जब अवसर आता है, तब साधक उसका उपयोग भी आत्म-विशुद्धि के लिए करता है। वह कभी मृत्यु से घबराता नहीं।[3] आत्म-विशुद्धि के मार्ग में जीवन-शुद्धि का जितना मूल्य है, उतना ही मरण-शुद्धि का भी। जीवन शुद्धि के लिए किए गए सारे कार्यों का महत्त्व तब और भी बढ़ जाता है, जबकि मनुष्य अनशन के द्वारा समाधि मरण प्राप्त करता है। वस्तुतः निरन्तर अभ्यस्त शास्त्र-ज्ञान चिरपालित व्रतों और बहुविध किए गए उग्र तपों का एक मात्र यही तो फल है कि वह आत्मानुभव करने के साथ-साथ शान्त भाव से समाधि मरण प्राप्त करे।[4] ऐसा मरण भव सन्तति को समाप्त कर देने वाला होता है। जन्म और मृत्यु का अनादिकालीन प्रवाह उसके द्वारा या तो पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता है या फिर अवरुद्ध होने के समीप तक आ जाता है।

इत्वरिक और मारणान्तिक

अनशन के दो भेद किये जाते हैं—इत्वरिक और मारणान्तिक। समय की अवधि

१. मरणं द्विविधं-नित्य मरणं तद्भव मरणं चेति, तत्र नित्य-मरणं समये-समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः तद्भव मरणं भवान्तर प्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभव निगमनम्।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७-२२

२. इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए,
बिहुणाहिरयं पुरे कडं, समयं गोयम ! मा पमायए। —उत्तराध्ययन १०-३

३. न संतसंति मरणंते, सीलवंता बहुस्सुया। —उत्तराध्ययन ५-२९

४. तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि, फलं मृत्युः समाधिना। मृत्यु-महोत्सव-२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक जो आहार प्रत्याख्यान किया जाता है, वह **'इत्वरिक'** और मरण पर्यन्त किया जाता है, वह **'मारणान्तिक'** या यावत्कथिक कहलाता है। प्रथम में अवधि पूर्ण होने पर भोजन की आकांक्षा को अवकाश रहता है, परन्तु दूसरे में वैसा कोई अवकाश नहीं रहता।[1] इस यावत्कथित अनशन को संथारा या मारणान्तिक संलेखना भी कहा जाता है। इस उच्च साधना में साधक जीवन की कामना से ऊपर उठ जाता है और अपने सभी भावों को अध्यात्म में इतना लीन कर लेता है कि उसे आहार के अभाव में भी किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता।[2]

मारणान्तिक संलेखना वस्तुतः मृत्यु को एक आह्वान है। जीवन, जो कि सभी प्राणियों को सर्वाधिक प्रिय होता है, उसे स्वेच्छापूर्वक छोड़कर मरण के सम्मुख जाना और उसको आदरणीय अतिथि की तरह निमंत्रित करना सहज कार्य नहीं है। ऐसा सहस्रों में तो क्या, लाखों में भी कोई एक ही कर सकता है। बहुधा तो यही देखा जाता है कि मृत्यु पीछा करती है, तब हर कोई किसी भी मूल्य पर अपने प्राण बचाने के लिए आतुर हो उठता है। उस समय उसकी स्थिति शिकारी द्वारा पीछा किये जाने वाले कातर हरिण की-सी होती है। परन्तु क्या मृत्यु का यही एक मात्र प्रकार है या इससे उच्च तथा आदर्श प्रेरित कोई अन्य प्रकार भी हो सकता है, इसका उत्तर जैन धर्म की अनशन-पद्धति देती है। इस पद्धति से मनुष्य कातर हरिण जैसी विवशता की मृत्यु के स्थान पर वीरोचित मृत्यु का वरण कर सकता है। यों तो युद्ध में प्राणाहुति देने वाले योद्धा को भी वीर कहा जाता है, परन्तु उसमें उसका आदर्श मरना नहीं, अपितु मारना होता है। फिर भी वह मरने का खतरा उठाता है। इस आधार पर उसे वीर कहा जाता है। अनशन में किसी अन्य को मारने की तो क्या, पीड़ा पहुंचाने तक की भावना भी नहीं होती। उसमें तो केवल अपनी आहुति देते हुए समाधिपूर्वक मरण को वरण किया जाता है, अतः यह वीर-वृत्ति अन्य सभी प्रकार की वीरवृत्तियों से पृथक् प्रकार की तो होती ही है, साथ ही पूर्णतः उदात्त और पवित्र भी होती है।

उच्च और पवित्र ध्येय को सामने रखते हुए जीना उत्कृष्ट जीवन है, उसी प्रकार उसी ध्येय की प्राप्ति में मरना उत्कृष्ट मरण। जिन व्यक्तियों का यथा-तथा जी लेने मात्र में ही विश्वास होता है, वे अवसर आने पर भी मरण को स्वेच्छया

---

१. इत्तरिय मरणकालाय, अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिया सावकंखा, निरवकंखा उ बिइज्जिया॥ उत्तराध्ययन ३०-९

२. आहारपच्चक्खाणे णं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदई,
जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेणं न संकिलिस्सइ।
उत्तराध्ययन-२९-३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकार नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्ति न जीवन के रहस्य को पहचानते हैं और न मरण के। ऐसे लोगों के लिए यही कहा जा सकता है—'**यज्जीवति तन्मरणं, यन्मरणं सास्य विश्रान्तिः**' अर्थात् उनका वह निस्तेज जीवन ही उनके व्यक्तित्व का मरण है। उसके बाद जो उनका शरीर-पात होता है, वह तो मात्र उनकी विश्रान्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल : एक विवेचन

पुद्गल का स्वरूप

जैन मतानुसार यह लोक षड्-द्रव्यात्मक है। लोक के घटक उन छह द्रव्यों के नाम हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इनमें पांच द्रव्य अमूर्त्त हैं, केवल एक पुद्गलास्तिकाय ही मूर्त्त है। संक्षिप्त में इसे केवल 'पुद्गल' भी कहा जाता है। यह एक जैन पारिभाषिक शब्द है। बौद्ध दर्शन में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु वह इससे सर्वथा पृथक् चेतना-सन्तति के अर्थ में हुआ है। जैनागमों में भी क्वचित् पुद्गल-युक्त आत्मा को पुद्गल कहा गया है।[1] परन्तु मुख्यतया मूर्त्त द्रव्य के अर्थ में ही इसका प्रयोग हुआ है। व्युत्पत्ति-गत अर्थ में पूरण-गलन धर्मा होने के कारण इसे 'पुद्गल' कहा जाता है।[2] भावात्मक आधार पर इसकी परिभाषा की जाती है—जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवान् होता है, वह पुद्गल है।[3] न्याय-वैशेषिक आदि ने जिसे भौतिक तत्त्व कहा है और वैज्ञानिक जिसे मैटर (MATTER) शब्द से पहचानते हैं, जैनों ने उसी द्रव्य को 'पुद्गल' नाम से अभिहित किया है।

पुद्गल के प्रकार

जैनागमों में पुद्गल द्रव्य के दो प्रकार बतलाये गये हैं—परमाणु पुद्गल और नो परमाणु पुद्गल (स्कंध)।[4] अन्यत्र इसके चार प्रकार भी बतलाये गये हैं—स्कंध, देश,

---

१. जीवेणं भंते। पोग्गली, पोग्गले? जीवे पोग्गली वि, पोग्गले वि।
—भगवती, ८-१०-३६१

२. पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ५-१

३. स्पर्शरसगंधवर्णवान् पुद्गलः। —जैन सिद्धान्त दीपिका, १-११

४. स्थानांग, २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेश और परमाणु[1] जहां दो भेद किये गये हैं, वहां स्कंध, देश और प्रदेश को नौ परमाणु पुद्गल में ही समाहित कर लिया गया है। मूलतः परमाणु को ही वास्तविक पुद्गल कहना चाहिए। शेष भेद तो परमाणु की ही विशिष्ट अवस्थाओं पर आधृत हैं। निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। वह पुद्गल का सबसे छोटा रूप होता है। निरंश होने के कारण उसे अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य कहा जाता है।

अनेक परमाणु पुद्गलों के एकीभूत पिण्ड को स्कंध कहा जाता है। ये पिण्ड दो से लेकर अनन्त परमाणुओं तक के हो सकते हैं। स्कंधों के संघात तथा विघात से भी नये स्कंध बनते हैं।

स्कंध के कल्पित विभाग को देश और स्कंध से अपृथग् भूत-अविभागी अंश को प्रदेश कहा जाता है। प्रदेश और परमाणु में केवल स्कंध से अपृथग्-भाव और पृथग्-भाव का ही अन्तर है।

पुद्गल के गुण

पुद्गल के मूलतः चार गुण हैं—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण। उपभेदों के आधार पर निम्नोक्त प्रकार से ये बीस हो जाते हैं।

स्पर्श—शीत, उष्ण, रुक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश।

रस—आम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त।

गंध—सुगंध और दुर्गंध।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

प्रत्येक पुद्गल चाहे वह परमाणु रूप हो और चाहे स्कंध रूप, उपर्युक्त चारों गुणों और अनन्त पर्यायों से युक्त ही होता है। एक परमाणु में कोई भी एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण और स्निग्ध-रूक्ष, इन दोनों युगलों में से एक-एक) होते हैं। प्रत्येक परमाणु में वर्णान्तर, गंधान्तर, रसान्तर और स्पर्शान्तर होता रहता है। स्कंध के लिए भी यही नियम है। यह परिवर्तन कम-से-कम एक समय के पश्चात् भी हो सकता है, परन्तु अधिक से अधिक असंख्यकाल के पश्चात् तो अवश्यम्भावी है।

पुद्गल की परिणतियां

इस संसार में जो भी कुछ इन्द्रिय-ग्राह्य हैं, वे सब पुद्गल की ही विविध परिणतियां हैं। इस जगत् के घटक द्रव्यों में पुद्गल के अतिरिक्त और कोई भी द्रव्य चक्षुर्ग्राह्य नहीं है। मात्र एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है, जो आंखों या यांत्रिक

१. उत्तराध्ययन, ३६-१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपकरणों से देखा जाता है। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सारे पुद्गल दृष्टि-ग्राह्य ही होते हैं। बहुत सारे पुद्गल, अनन्त परमाणुओं के पिण्डीभूत स्कंध होने पर भी न दृष्टि-ग्राह्य होते हैं और न यंत्र-ग्राह्य ही। पुद्गलों की यह दृश्यता और अदृश्यता वास्तव में उनके परिणति-भेद से सम्बद्ध होती है। पुद्गल की परिणति दो प्रकार की मानी जाती है—सूक्ष्म और बादर (स्थूल)।

सूक्ष्म परिणति वाले पुद्गल अनन्तानन्त स्कंधों के रूप में एकत्रित होने पर भी तब तक दिखाई नहीं दे सकते, जब तक कि उनकी स्थूल परिणति नहीं हो जाती। सूक्ष्म परिणति वाले पुद्गलों में प्रथम चार स्पर्श मिलते हैं, अतः उन्हें चतुःस्पर्शी कहा जाता है। वे जब सूक्ष्म-परिणति से हटकर स्थूल-परिणति में आते हैं, तब उसके साथ ही उनमें उत्तरवर्ती चार स्पर्शों की भी अभिवृद्धि हो जाती है। वे फिर अष्ट स्पर्शी स्कंध कहलाते हैं। ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शों के सापेक्ष संयोग से बनते हैं, जैसे—रूक्ष स्पर्शी परमाणुओं के बाहुल्य से लघुस्पर्श, स्निग्ध स्पर्शी परमाणुओं के बाहुल्य से गुरु स्पर्श, शीत व स्निग्ध स्पर्शी परमाणुओं के बाहुल्य से मृदु स्पर्श और उष्ण व रूक्ष स्पर्शी परमाणुओं के बाहुल्य से कर्कश स्पर्श बनता है।

इनके अतिरिक्त शब्द, बन्ध, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत आदि सभी पुद्गलों की ही विभिन्न परिणतियां हैं। संसार में न कभी एक परमाणु घटता है और न कभी एक बढ़ता है, केवल उनकी विभिन्न परिणतियों के कारण ही दृश्य जगत् की सारी उथल-पुथल होती रहती है।

पुद्गलों का परिणमन जब किसी प्रकार की बाह्य प्रेरणा के बिना स्वभावतः होता है, तब वे वैस्रसिक कहलाते हैं। जीव के प्रयोग से शरीरादि रूप में परिणत पुद्गल प्रायोगिक और जीव मुक्त होने पर भी जिनका प्रायोगिक परिणमन जब तक नहीं छूटता तब तक वे पुद्गल अथवा जीव प्रयत्न और स्वभाव—दोनों के संयोग से परिणत पुद्गल मिश्र कहलाते हैं।

जीव के साथ सम्बद्ध पुद्गल

पुद्गल का अन्य पुद्गल के साथ तो मिलन होता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त जीव द्वारा भी उसका ग्रहण किया जाता है। जीव अपनी विभिन्न क्रियाओं के द्वारा पुद्गलों को आकृष्ट करता है, तब वे उसके साथ संलग्न होते हैं और उसे अनेक प्रकार से प्रभावित करते हैं। पुद्गलों पर जीवों के और जीवों पर पुद्गलों के विभिन्न प्रभावों के परिणामस्वरूप ही सृष्टि की सारी विचित्रताएं घटित होती रहती हैं। जीव के साथ सम्बन्ध होने योग्य पुद्गलों को मुख्यतः आठ वर्गणाओं-श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. औदारिक वर्गणा—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के स्थूल शरीर के निर्माण में काम आने योग्य पुद्गल-समूह।
२. वैक्रिय वर्गणा—दृश्य-अदृश्य, छोटा-बड़ा, हल्का-भारी आदि विभिन्न क्रियाएं करने में समर्थ शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।
३. आहारक वर्गणा—योग-शक्ति जन्य शरीर के पुद्गल-समूह।
४. तैजस वर्गणा—ऊष्मा, तेज या वैद्युतिक पुद्गल-समूह।
५. भाषा वर्गणा—वचनरूप में परिणत होने योग्य पुद्गल-समूह।
६. श्वासोच्छ्वास वर्गणा—जीवों के श्वास और उच्छ्वास में प्रयुक्त होने योग्य पुद्गल-समूह।
७. मनो वर्गणा—चिन्तन में सहायक बनने योग्य पुद्गल-समूह।
८. कार्मण वर्गणा—जीवों की सत्-असत् प्रवृत्तियों से आकृष्ट होकर कर्मरूप में परिणत होने योग्य पुद्गल-समूह।

उपर्युक्त वर्गणाओं के अवयव क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्म और अधिकाधिक प्रचय वाले होते हैं।[1] ये वर्गणाएं परस्पर सर्वथा भिन्न नहीं हैं, अतः प्रत्येक वर्गणा के पुद्गलों की वर्गणान्तर परिणति संभव है। प्रथम चार वर्गणाओं के पुद्गल-स्कंध अष्टस्पर्शी अर्थात्—शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश—इन आठों स्पर्शों से युक्त होते हैं। अन्तिम चार वर्गणाओं के पुद्गल स्कंध चतुःस्पर्शी-अर्थात्—शीत, उष्ण, रुक्ष, स्निग्ध—इन चार स्पर्शों से युक्त होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुद्गल का जैविक संसार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुद्गल-वर्गणाओं को ग्रहण किये बिना किसी भी जीव का कोई भी कार्य एक क्षण के लिए भी चल नहीं सकता। सुख-दुःखानुभूति से लेकर श्वासोच्छ्वास तक की उसकी प्रत्येक क्रिया पुद्गल-प्रभावित है। यहां तक कि सब क्रियाओं का अधिष्ठान उसका स्थूल या सूक्ष्म शरीर भी पुद्गल-संभूत है।

हमारे शरीर से प्रतिक्षण प्रतिबिम्बात्मक पुद्गलों का प्रक्षेप होता रहता है, हमारे प्रत्येक चिन्तन में जो मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण होते हैं, वे तदनुकूल आकृतियों में परिणत होकर अगले ही क्षण वहां से मुक्त होकर आकाश-मण्डल में फैल जाते हैं। हमारी प्रत्येक ध्वनि या शब्द पहले भाषा-वर्गणा के पुद्गलों के रूप में ग्रहण होते हैं, उसके पश्चात् ही यदि वे तीव्र प्रयत्न से उत्सृष्ट हुए हों, तो अति सूक्ष्म काल में ही वे लोकान्त तक ऊर्मियों के रूप में फैलते चले जाते हैं। उपर्युक्त सभी प्रकार के पुद्गल-स्कंध असंख्यकाल तक उसी रूप में ठहर भी सकते हैं।

---

१. ओरालविउव्वाहार, तेयभासाणु पाण मण कम्मे
अहदव्ववग्गणाणं, कमो विवज्जास ओरवत्ते। १-१५ —कर्मग्रन्थ (पंचम) ७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपयुक्त साधन उपलब्ध हों तो हजारों वर्ष पूर्व के व्यक्तियों की आकृतियां, उनका चिन्तन और शब्द आज भी पकड़े जा सकते हैं।

जैन चिन्तकों ने ईसा की अनेक शताब्दियों पूर्व पुद्गल या परमाणु विषयक जो अन्वेषण किया था, वह बहुत मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओं को उससे बहुत कुछ मार्ग-दर्शन मिल सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन : अनुचिन्तन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्षय तृतीया : एक महान् तपःपर्व

आदि स्रोत

जैन समाज में वर्षी तप करने का प्रचलन काफी लम्बे समय से रहा है। कहा जा सकता है कि इसका प्रारंभ पुराण-पुरुष भगवान् ऋषभदेव के घोर तप की स्मृति एवं अनुकरण के रूप में हुआ। भगवान् ऋषभ वर्तमान मानव-परम्परा के आदि पुरुष थे, अतः उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। वर्तमान जैन धर्म के महत्तम पुरुष चौबीस तीर्थंकरों में वे प्रथम तीर्थंकर थे। सामूहिक जीवन-व्यवस्था, राजव्यवस्था और दण्ड-व्यवस्था के आद्य अंकुर उन्हीं के द्वारा उत्पन्न किए गए थे। अध्यात्म के आदि स्रोत भी वे ही थे। वे सप्तम कुलकर नाभि और मरुदेवी के पुत्र थे। चैत्र कृष्णा अष्टमी को उनका जन्म हुआ।

यौगलिक युग

जैन काल-गणना के अनुसार एक काल-चक्र पूर्ण होने पर क्रमिक विकास और ह्रास का भी एक चक्र पूरा हो जाता है। फलतः सारी स्थितियां पुनः पूर्व रूप में आ जाती हैं। प्रत्येक काल-चक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—ये दो विभाग होते हैं। प्रत्येक विभाग के छह 'अर' या विभागांश होते हैं। भगवान् ऋषभ अवसर्पिणी काल में उत्पन्न हुए, उस समय तक उसके प्रथम दो 'अर' पूर्ण हो चुके थे। तीसरे का बहुलांश व्यतीत हो चुका था। अवसर्पिणी काल के उस समय को यौगलिक युग कहा जा सकता है। पुरुष और स्त्री का युगल ही उस समय सब कुछ था। प्रत्येक युगल अपने जीवन काल में स्वभावतः मात्र एक नये युगल को जन्म देता था। न जन-संख्या की वृद्धि थी और न ह्रास। कुल, वर्ग और जाति भी नहीं थी। जन्य-जनक एवं पति-पत्नी के अतिरिक्त सम्बन्ध विकसित नहीं हुए थे। सभी व्यक्ति सरल, शान्त और आशुतोष प्रकृति के होते थे। अशन, वसन, निवास आदि की बहुत सीमित आकांक्षाएं थीं। उन सबकी पूर्ति कल्पवृक्षों द्वारा हो जाती थी। काम करके जीविका प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी। संग्रह, चोरी और असत्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोभाव उत्पन्न नहीं हुए थे। वैर, विरोध और झगड़े भी नहीं थे। सभी व्यक्ति सहज आनन्द की अनुभूति में जीवन-यापन करते थे।

कुलकर व्यवस्था

काल का चक्र घूमा। धीरे-धीरे भूमि की सरसता में कमी आई। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की श्रेष्ठता अपेक्षाकृत न्यून हुई। फलतः कल्पवृक्षों की शक्ति और संख्या भी क्षीण होती चली गई। आवश्यकता पूर्ति के साधन कम होने लगे तब मुक्त साधनों पर अधिकार जमाने का भाव जागा। इस स्थिति ने आपसी संघर्ष को जन्म दिया। आपाधापी और अपराधवृत्ति बढ़ने लगी। यौगलिक व्यवस्था चरमराई तो लोग क्षेत्रीय आधार पर संगठित होने लगे। इन संगठनों को 'कुल' कहा गया। देखरेख और नियंत्रण के लिए एक व्यक्ति को मुखिया बनाया गया। उसे 'कुलकर' नाम दिया गया। वह न्याय करने तथा अन्यायी को दंड देने का अधिकारी भी था।

कुलकर व्यवस्था सात पीढ़ियों तक चली। इसे राजतन्त्र का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। सात कुलकरों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि। प्रथम दो कुलकरों के युग में सामान्य अपराध होने लगे थे। अपराध-विरति के लिए दंड रूप से 'हाकार' नीति का प्रयोग किया जाने लगा। 'हाय ! तूने यह क्या किया !' इतना कहने मात्र से दोषी लज्जित हो जाता और आगे के लिए वैसा करने का साहस नहीं करता। खेद प्रकाशन का यह दंड कालान्तर में सहज हो गया। तब अगली दो पीढ़ियों में 'माकार' नीति का प्रयोग विकसित हुआ। सामान्य दोषों के लिए 'हाकार' और विशेष दोषों के लिए 'माकार' अर्थात् 'ऐसा मत करो'—यह निषेधात्मक दंड काम में लिया गया। जब यह दंड भी स्वल्प प्रभावी होने लगा तब पांचवीं, छठी और सातवीं पीढ़ी के कुलकरों ने 'धिक्कार' नीति का अवलम्बन लिया। छोटे दोषों के लिए 'हाकार' मध्यम दोषों के लिए 'माकार' और बड़े दोषों के लिए 'धिक्कार' कहकर दोषकर्त्ता को तिरस्कृत किया जाता।

राज-व्यवस्था

सप्तम कुलकर नाभि के नेतृत्व काल तक आते-आते पूर्वापेक्षा से भूमि की सरसता में काफी अन्तर आ गया। कल्पवृक्षों की संख्या अति न्यून हो गई। अशन-वसन की दुर्लभता ने शांत और प्रसन्न रहने वाले युगलों में अशांति के बीज अंकुरित किये। वे परस्पर झगड़ने लगे। धिक्कार नीति तक के शाब्दिक दंडों की व्यवस्था अप्रभावी हो गई। प्राचीन युगलों ने कभी क्रोध एवं झगड़ों की स्थिति नहीं देखी थी। वे घबराये और मिलकर नाभि एवं कुमार ऋषभ को सूचित करने आये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राज-व्यवस्था की कल्पना उभरी और फिर नाभि के आदेश से ऋषभ को राजा घोषित किया गया।

ऋषभ प्रथम राजा बने। उन्होंने अपने विशिष्ट ज्ञान के बल पर जीवन-व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन करने की योजना को कार्यान्वित करना प्रारंभ किया। गांवों और नगरों का निर्माण प्रारंभ हुआ। राजधानी के रूप में जो नगर बसा, उसका नाम 'विनीता' रखा गया। कालान्तर में उसे 'अयोध्या' कहा जाने लगा। लोग वनवासी संस्कारों से हटकर गृहवासी बनने लगे। सुख एवं समृद्धि के लिए पशु-पालन की पद्धति भी विकसित हुई। गायों, घोड़ों, और हाथियों का विशेष उपयोग होने लगा।

राज ऋषभ ने प्रजा को संतानवत् पालना प्रारंभ किया। राज्य की सुव्यवस्था के लिए उन्होंने विभिन्न अधिकार संपन्न चार प्रकार के कुलों की स्थापना की। उनके नाम थे—उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय।

(१) नागरिक जीवन व्यवस्थित चलता रहे और चोर-लुटेरे आदि प्रजापीड़क लोग दंडित किये जा सकें—इसलिए आरक्षी दलों की नियुक्ति की गई। ये लोग उग्रकुल में गिने गये।

(२) समग्र राज्य के सज्जनों की सुरक्षा एवं दुर्जनों के नियंत्रण हेतु मंत्रणा कर उचित व्यवस्था देने वाली मंत्रि-परिषद् का गठन किया गया। वे भोगकुल में गिने गये।

(३) राजा ऋषभ के जो समवयस्क उनके निर्दिष्ट कार्यों को संपन्न करने हेतु नियुक्त किये गये तथा जिन्हें दूरस्थ क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व सौंपा गया, वे राजन्य कुल के कहलाए।

(४) राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए चतुरंग सेना एवं सेनापतियों की नियुक्ति की गई, वे सब क्षत्रिय कहलाये।

राज्य का अनुशासन भंग करने वालों तथा प्रजापीड़कों को रोध, बन्धन एवं ताड़न के रूप में शारीरिक दंड का विधान उसी समय से प्रारम्भ किया गया।

विवाह-पद्धति का प्रारम्भ

ऋषभ के शैशव-काल से ही युग में बदलाव के चिह्न स्पष्ट होने लगे थे। उस समय तक हर युगल का जन्म एवं मरण साथ-साथ में ही होता था। परन्तु एक दुर्घटना ने उस स्थिति में आने वाले शैथिल्य की सूचना दे दी। एक माता-पिता ने अपने नवजात युगल शिशुओं को ताड़वृक्ष के नीचे सुला दिया। अचानक फल टूटकर बालक के सिर पर गिरा और उसकी मृत्यु हो गई। उस युग की वह प्रथम-अकाल मृत्यु थी। कालान्तर में माता-पिता भी मर गये, तब बालिका अकेली रह गई। उसका अकेलापन सभी के लिए आश्चर्य की बात थी। लोग उसे कुलकर नाभि के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पास लाये। उन्होंने उसे अपने युवापुत्र ऋषभ को पत्नी के रूप में सौंप दिया। ऋषभ ने अपनी सहोदरी सुमंगला के साथ-साथ सुनन्दा से भी विवाह किया। तभी से विवाह-पद्धति का प्रचलन हुआ। उसके बाद लोग सहोदरी के अतिरिक्त अन्य कन्याओं से विवाह करने लगे।

खाद्य-समस्या का हल

कुलकर-व्यवस्था के प्रारंभ काल से ही कल्पवृक्षों का क्रमिक ह्रास प्रारंभ हो गया था। उस समय लोगों ने अन्य वृक्षों के फल तथा कंद, मूल आदि को भोजन-सामग्री बनाया। बाद में बनवास छोड़कर ग्राम या नगर वास प्रारंभ होने पर कंदमूल एवं फलों की भी सर्व-सुलभता नहीं रही। ऋषभ ने तब मनुष्य द्वारा बोये जाने योग्य शाली, गोधूम, चणक आदि भोज्य अन्नों को चुना और कृषि पद्धति द्वारा उन्हें बोने एवं संगृहीत करने की विधि सिखलाई।

वातावरण में अति स्निग्धता होने के कारण उस समय तक अग्नि उत्पन्न नहीं हुई थी। कालान्तर में स्निग्धता के साथ रूक्षता का आनुपातिक योग बना, तब वृक्षों के पारस्परिक घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई। वह फैली और वन जलने लगा। नयी वस्तु देखकर लोग भयभीत हुए। उन्होंने ऋषभ को उसकी सूचना दी। उन्होंने लोगों को अग्नि के उपयोग तथा पाक विद्या का प्रशिक्षण दिया। खाद्य समस्या का सहज हल उपलब्ध हो गया।

कला, शिल्प और व्यवसाय

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुषोपयोगी ७२ कलाओं का प्रशिक्षण दिया। कनिष्ठ पुत्र बाहुबलि को विभिन्न प्राणियों के लक्षणों का ज्ञान दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को लिपि-ज्ञान और छोटी पुत्री सुन्दरी को गणित-ज्ञान दिया। उन दोनों को स्त्री-जनोपयोगी ६४ कलाएं भी सिखलाई। इनके अतिरिक्त चिकित्सा, अर्थ और धनुर्विद्या आदि विभिन्न विद्याओं का प्रशिक्षण देकर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बनाया।

जनोपयोगी वस्तुओं के निर्माण-प्रशिक्षण से अनेक प्रकार के शिल्पों का उद्भव हुआ। निवास के लिए गृह-निर्माण, अन्न आदि पकाने के लिए पात्र-निर्माण, कृषि, गृह एवं युद्ध आदि में उपयोगी यन्त्रों-औजारों का निर्माण, वस्त्र-निर्माण, चित्रकारी तथा क्षौर कर्म आदि।

पदार्थों का विकास हुआ तब उनके विनिमय की भी आवश्यकता हुई, फलतः व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया गया। वस्तुओं के आयात-निर्यात तथा यातायात की सुलभता के लिए शकट, रथ आदि वाहनों का निर्माण हुआ। पदार्थ बढ़े तो संग्रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का भाव जागा, ममत्व बढ़ा, वस्तु और व्यक्ति निज-पर की तुला पर तोले जाने लगे। लोकैषणा और धनैषणा की ओर लोक-मानस-खिंचने लगा।

साधना मार्ग पर

कर्त्तव्य बुद्धि से लोक व्यवस्था को गति देते हुए ऋषभ ने लम्बे समय तक राज्य किया। उनके राज्य काल में यौगलिक जीवन का पूर्ण रूप से मानवीकरण हो गया। सामाजिक विकास के साथ-साथ अनेक परम्पराएं उत्पन्न हुई। जन्म, विवाह आदि अवसरों पर उत्सव तथा मृत्यु आदि पर शोक मनाया जाने लगा।

जीवन के अग्रिम भाग में ऋषभ भोगवाद से विरत होकर त्याग एवं संयम की ओर उन्मुख हुए। वे जन्म से ही अवधिज्ञानी (एक प्रकार के अतीन्द्रिय ज्ञान युक्त) थे। उसी के आधार पर उन्होंने पहले लोक-धर्म का प्रवर्त्तन किया। उसके सुस्थिर हो जाने के पश्चात् उत्तरकाल में उससे भी आगे लोकोत्तर धर्म या मोक्ष धर्म के प्रवर्त्तन की तैयारी की। राज्य की सुव्यवस्था चालू रहे इसलिए ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। बाहुबलि आदि शेष ९९ पुत्रों को भी अलग-अलग राज्यों का भार सौंपा। उसके पश्चात् चैत्र कृष्णा अष्टमी को उन्होंने आत्म-साधना के मार्ग पर चरण-न्यास कर दिया।

ऋषभ ने संयम व्रत के साथ ही मौन ग्रहण कर लिया। उस समय के लोग आहार-दान की विधि से सर्वथा अपरिचित थे। कोई याचक था ही नहीं। भगवान् पैदल विहार करते और आहार-याचना के लिए जाते। उन्हें अपने घर आया देखकर लोग गद्‌गद हो जाते। अश्व, रथ, आभूषण आदि भेंट ग्रहण करने का आग्रह करते, परन्तु भोजन के लिए कोई नहीं पूछता। इतनी छोटी चीज के लिए पूछना किसी को याद ही नहीं आता। अन्तराय कर्म का अनिवार्य उदय समझकर भगवान् निराहार ही विचरण करते रहे। वे अनन्त शक्ति सम्पन्न थे, अतः उस दुस्सह परीषह में भी अडोल रहे।

उनके साथ चार हजार व्यक्ति दीक्षित हुए थे, परन्तु किसी को साधना-पद्धति का ज्ञान नहीं था। सभी भगवान् का अनुसरण एवं अनुकरण करते रहे। मौनी बन कर बुभुक्षित विचरण करते रहना उनके लिए कुछ ही दिनों में असंभव हो गया। बार-बार पूछने पर भी भगवान् ने अपना मौन नहीं खोला तब वे सब अपनी-अपनी मनः कल्पित साधना करने लगे। घर छोड़ देने के पश्चात् वापस वहां जाना उपयुक्त नहीं लगा अतः वे वनवासी बनकर कंदमूल खाने लगे और वल्कल पहन कर रहने लगे।

वर्षी तप और पारण

भगवान् ऋषभ एक वर्ष से भी अधिक समय तक निराहार विचरते रहे। एक बार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे हस्तिनापुर पधारे। वहां बाहुबलि का पुत्र सोमप्रभ राज्य करता था। उसके पुत्र श्रेयांस ने प्रपितामह के आगमन की बात सुनी तो तत्काल राजभवन से बाहर आया और भगवान् के चरणों में वंदन किया। उन्हें मुनिरूप में देखा तो उसे वह स्वरूप परिचित-सा लगा। ऊहापोह करने पर उसे तत्काल जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्व भव में गृहीत अपनी साधुता और उसकी समग्र चर्या उसके सामने स्पष्ट भासित हो गई। उसने कल्प्य-अकल्प्य को जाना तथा भोजन देने की विधि को भी जाना।

श्रेयांस के प्रासाद में उसी दिन ताजे इक्षु रस से भरे हुए घड़े भेंट स्वरूप आये हुए थे। उस समय वही शुद्ध पदार्थ विद्यमान था। कुमार ने उसे ग्रहण करने के लिए बड़े श्रद्धासिक्त भाव से प्रार्थना की। भगवान् कर-पात्र ही थे। सर्वथा शुद्ध आहार देखकर उन्होंने अपनी दोनों अंजलियों को पात्रवत् बनाकर उसमें वह इक्षु-रस ग्रहण किया। एक वर्ष और चालीस दिनों की लम्बी अवधि के पश्चात् उन्होंने प्रथम भोजन किया। वह वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था।

अक्षय तृतीया

प्रथम दानदाता बनकर श्रेयांस ने अक्षय पुण्य तथा यश का अर्जन किया। वह दान भगवान् के महान् तप की संपन्नता में सहायक बनकर सदा-सदा के लिए अक्षय बन गया। इसीलिए इस तृतीया को अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। उस दिन इक्षुरस का दान दिया गया था अतः इसे इक्षु-तृतीया भी कहा जाता है। यह दिन अब एक महत्त्वपूर्ण पर्व के रूप में प्रतिष्ठित है। तपःपूत इसी दिन को किसी भी शुभ कार्य को प्रारंभ करने के लिए एक स्वतः सिद्ध शुभ मुहूर्त्त माना जाता है।

वर्तमान वर्षी तप

भगवान् ऋषभ ने संकल्प पूर्वक वर्ष भर के लिए तप प्रारंभ नहीं किया था। वह तो दान-पद्धति की अनभिज्ञता के कारण शुद्ध आहार न मिलने से स्वतः ही हो गया था। वर्तमान का वर्षी तप वर्ष भर के लिए संकल्पपूर्वक प्रारंभ किया जाता है।

भगवान् का तप चैत्र कृष्णा ८ से प्रारंभ हुआ और उसका पारण अगले वर्ष की वैशाख शुक्ला ३ को पूरा हुआ। वर्तमान के वर्षी तप का संकल्प वैशाख शुक्ला ३ को ग्रहण किया जाता है और वह आगामी दिन से प्रारंभ होकर अगले वर्ष की वैशाख शुक्ला ३ को संपन्न होता है।

भगवान् का वर्षी तप निरंतर निराहार के रूप में था, जबकि वर्तमान वर्षी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप एकान्तर उपवास के रूप में है। कोई चाहे तो बीच-बीच में उपवास से अधिक तप भी कर सकता है।

भगवान् का वर्षी तप विनीता (अयोध्या) से प्रारम्भ हुआ और हस्तिनापुर में संपन्न। वर्तमान का वर्षी तप यों तो किसी भी क्षेत्र से प्रारंभ और संपन्न किया जा सकता है, परन्तु तप:कर्त्ता बहुधा उसका प्रारंभ किसी आचार्य या साधु-साध्वी के पास संकल्प ग्रहण करके करता है, तथा उसकी संपन्नता किसी तीर्थस्थल में या कीन्हीं साधु-साध्वियों या आचार्यों के सान्निध्य में करने का प्रयास करता है। तेरापंथ में कई वर्षों से इसके संकल्प तो यथा-सुविधा कहीं भी ग्रहण कर लिये जाते हैं, परन्तु पारण प्रायः सामूहिक रूप से आचार्यश्री के सान्निध्य में किये जाते हैं। अक्षय तृतीया का पर्व कहां मनाया जाएगा—इसकी घोषणा आचार्यश्री काफी समय पूर्व ही कर देते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवत्सरी महापर्व और अधिमास

अभेद की ओर अभियान

जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायों में समन्वय की भावना जागरित हो और वे एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट आ सकें, ऐसा कोई भी उपक्रम अभिनन्दनीय होगा। विगत युग चाहे कितना ही पारस्परिक विभेद खोजने का क्यों न रहा हो, पर अब उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है। अब तो आगत युग के विषय में ही सोचना तथा तैयारी करनी चाहिए कि उसमें कितना अभेद खोजा तथा स्थापित किया जा सकता है। अभेद की ओर अभियान करने के प्राथमिक चरणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा, पर्वों की एकरूपता। समग्र जैन समाज की दृष्टि से अब तक मुख्यतः दो पर्व ही ऐसे हैं, जिन्हें सर्वमान्य कहा जा सकता है। एक भगवान् महावीर का जन्म-दिवस और दूसरा निर्वाण-दिवस। उनमें भी निर्वाण-दिवस दीपावली के रूप में अखिल भारतीय स्तर का एक सांस्कृतिक पर्व बन गया है। वह भगवान् महावीर की निर्वाण-तिथि का ही एक मात्र प्रतीक नहीं रहा है। उसमें जैनों तथा अजैनों के अनेक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रतीक भी सम्मिलित हो गये हैं। तात्पर्य है कि इस समय का मात्र 'महावीर जयन्ती' का दिन ही ऐसा है, जिसे जैनों के सभी सम्प्रदाय एक साथ मनाकर अपने एकत्व को सुदृढ़ता प्रदान कर सकते हैं।

विभिन्न परम्पराएं

इसके अतिरिक्त 'संवत्सरी' को भी उसी कोटि का सर्वमान्य पर्व बनाया जा सकता है, क्योंकि वह दिन सभी श्वेताम्बरों द्वारा बहुमान्य पर्यूषण पर्व की सम्पन्नता का दिन है, जबकि दिगम्बरों द्वारा बहुमान्य दश लाक्षणिक पर्व का प्रारम्भिक दिन। किन्तु इसके एकत्व में अनेक कठिनाइयां भी हैं। एक लम्बे समय से इसकी तिथि-निर्णय में परस्पर काफी भेद चला आ रहा है। कुछ समर्थ पूर्वाचार्यों ने एतद्-विषयक तिथि-निर्णय के लिए अपने संघों में विभिन्न परम्पराएं स्थापित की थीं। उस समय वैसा करना निःसन्देह उनके लिए आवश्यक था। तत्कालीन द्रव्य क्षेत्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल और भाव को अवश्य ही उन्होंने सम्मुख रखकर यह कार्य किया था, फिर भी वे विभिन्न प्रयत्न पृथक्-पृथक् इकाइयों को ध्यान में रखकर ही हो पाये; अतः वे सभी परम्पराएं सामष्टिक भावना के लिए साधक नहीं बन पायीं। अब यह प्रश्न सामूहिक चिन्तन के लिए सबके सम्मुख आया है। आचार्यश्री तुलसी ने बीकानेर (वि० सं० २०२१) चतुर्मास में इस विषय पर सामूहिक चिन्तन के लिए धुरीण व्यक्तियों का आह्वान किया था। सभी सम्प्रदायों के चुने हुए व्यक्ति सम्मिलित रूप से इस विषय पर चिंतन करें और एकरूपता के लिए उपर्युक्त मार्ग निकालें, उससे पूर्व सांवत्सरिक पर्व की तिथि-भिन्नता और उसके कारणों पर विचार कर लेना भी सामयिक ही होगा।

सांवत्सरिक पर्व कब मनाया जाए, इस विषय में कहीं कोई स्पष्ट आगमिक विधान उपलब्ध नहीं होता। श्रमण भगवान् महावीर के विषय में उल्लेख करते हुए समवायांग में केवल इतना विवरण दिया गया है कि उन्होंने वर्षाकाल के ५० दिन व्यतीत होने और ७० दिन अवशिष्ट रहने पर पर्युषण (संवत्सरी) पर्व किया।[1] कल्पसूत्र में भी ऐसा ही उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त निशीथ में असमय पर्युषण करने वाले तथा यथासमय पर्युषण न करने वाले श्रमण के लिए चातुर्मासिक दण्ड का विधान किया गया है।[2]

तिथि गणना का आधार

जैनों में जब तक आगमानुमोदित पद्धति के अनुसार चातुर्मास और तिथि-गणना का क्रम चालू रहा, तब तक पर्युषण की आराधना यथासमय और एकरूपता से चालू रही प्रतीत होती है। परन्तु जब से तिथि-गणना के लिए लौकिक पंचांग का आश्रय लिया जाने लगा, तब से व्यवस्था गड़बड़ा गयी और उसमें मतभेद प्रारम्भ हो गये। लौकिक पंचांग के अनुसार श्रावण और भाद्रपद आदि महीने भी अधिमास के रूप में आते हैं, जबकि जैन क्रम से वर्षा-काल का कोई भी मास अधिमास नहीं होता। वर्षा-काल में अधिमास होने पर चातुर्मास पांच महीने का होने लगा। उस स्थिति में पर्युषण-संवत्सरी के लिए पूर्व के पचास दिन और बाद के सत्तर दिनों का मेल बिठाना असम्भव हो गया। फलस्वरूप इस पर्व के विषय में अनेक परम्पराएं हो गईं। किसी ने पूर्व के ५० दिनों को महत्त्व दिया, तो किसी ने बाद के ७० दिनों

---

१. समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइ राइए मासे वइक्कंते सत्तरिएहिं राइंदिएहिं सेसेहिं वासावासं पज्जोसवेति। —समवायांग ७०

२. जे भिक्खू अपज्जो सवणाए ण पज्जोसवेइ, पज्जोसवंतं वा साइज्जइ।
जे भिक्खू पज्जोसवणाए ण पज्जोसवेइ, ण पज्जोसवंतं वा साइज्जइ॥
—निशीथ, १०-४८, ४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को और किसी ने अधिमास को अगणनीय मानकर पर्व मनाने की परम्परा चालू की। तिथियों की घटा-बढ़ी में मतभेद होने के कारण इसके साथ एक दुर्भाग्य और जुड़ गया कि कभी यह पर्व चतुर्थी को मनाया जाने लगा, तो कभी यह पर्व पंचमी को। किसी परम्परा द्वारा इसके लिए केवल चतुर्थी ही नियत कर दी गई तो किसी के द्वारा केवल पंचमी ही। किसी ने सूर्योदय के समय की तिथि को ही मान्यता दी तो किसी ने घटिका प्राप्त तिथि को।

यद्यपि अधिमास या मलमास जैनागमों में भी स्वीकृत हुआ है, परन्तु वहां उसके लिए पौष और आषाढ़—ये दो महीने ही निश्चित हैं, अन्य कोई महीना अधिमास नहीं होता है। चन्द्र-प्रज्ञप्ति सूत्र में ५ वर्ष के एक युग में ६२ मास होने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि वहां ५ वर्ष में दो अधिमास गिने गए हैं। अन्यथा वर्ष के १२ मास होने के हिसाब से तो केवल ६० मास ही होने चाहिए। इस क्रम से प्रत्येक ढाई वर्ष के पश्चात् अर्थात् ३० माह के पश्चात् एक मास अधिक होता है। जैन गणना में श्रावण प्रतिपदा से नव वर्ष आरम्भ होता है, अतः ५ वर्ष के युग में ३१वां मास पौष और ६२वां मास आषाढ़ अधिमास होता है। जब आषाढ़ दो होते हैं, तब द्वितीय आषाढ़ की पूर्णिमा को चातुर्मासिक पाक्षिक दिन होता है और तब से चार महीने तक अर्थात् कार्तिक पूर्णिमा तक वर्षाकाल माना जाता है।

वर्षा-काल में अधिमास की परम्परा जैन क्रम से तो मान्य ठहरती नहीं, परन्तु वह अन्यत्र भी सम्भवतः पीछे से ही आई। आचार्य चाणक्य ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में अधिमास का विचार किया है। उससे तो यही सिद्ध होता है कि उस समय भी ग्रीष्म और हेमन्त ऋतु में मलमास किया जाता था। वे लिखते हैं—

दिवसस्य हरत्येकं षष्टि भागमृतौ सतः
करोत्येकं महच्छेदं तथैवैकं च चन्द्रमाः
एवमर्धं तृतीयानामष्टानामधिमासकम्
ग्रीष्मे जनयतः पूर्वं पंचाब्दान्ते च पश्चिमम्।

सूर्य प्रतिदिन दिन के ६०वें हिस्से अर्थात् एक घटिका का छेद कर लेता है। इस तरह एक ऋतु में आठ घटिका यानी एक दिन अधिक बना देता है। इस प्रकार एक साल में ६ दिन, दो साल में १२ दिन और ढ़ाई साल में १५ दिन अधिक बना देता है। इसी तरह चन्द्रमा भी प्रत्येक ऋतु में एक-एक दिन कम करता चला जाता है और ढ़ाई साल में १५ दिन की कमी हो जाती है। यानी ढ़ाई साल में सौर और चान्द्र गणना के अनुसार दोनों में एक महीने बाद ग्रीष्म ऋतु में प्रथम मलमास या अधिमास और पांच साल के बाद हेमन्त ऋतु में एक अधिक मास को सूर्य और चन्द्रमा उत्पन्न करते हैं। ढ़ाई साल में इनकी गणना में जो एक महीने का भेद पड़ जाता है, उसे पहले ग्रीष्म और पीछे हेमन्त ऋतु में क्रमशः एक महीना और अधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ाकर पूरा कर दिया जाता है।[1] आचार्य चाणक्य के उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे ज्येष्ठ-आषाढ़ और मार्गशीर्ष-पौष को ही मलमास के रूप में स्वीकृत करते हैं। उनका यह कथन जैन मान्यता का ही समर्थन करता है।

इस समय प्रायः सभी जैन परम्पराएं लौकिक पंचांग के अनुसार ही अधिमास तथा तिथियों का वृद्धि-क्षय मान्य करती हैं, अतः जब-जब श्रावण तथा भाद्रपद अधिमास होता है, तब-तब संवत्सरी महापर्व को मनाने में विभिन्न विकल्प हो जाते हैं। प्रत्येक विकल्प के पीछे जो क्रम और इतिहास रहा है, वह यदि सबके सम्मुख आए, तो एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने तथा उसमें समन्वय का मार्ग खोजने में सहायता मिल सकती है। तेरापंथ में जिस क्रम में संवत्सरी पर्व का तिथि-निर्णय किया जाता है, वह जयाचार्य के शब्दों में इस प्रकार है—

मास में बीस दिवस बैसती चोमासी थी,
सित्तर दिन बलि पाछल राखी।
समवायांग रै सित्तर समवाये,
संवत्सरी करणी जिन भाखी॥३६॥
कवे चौमास में तीन महीना गुणतीसा,
एक महीनों तीसो होय।
एक सो सतरे दिन रो चौमासो,
किणहिक वर्ष बिजे आवै सोय॥५०॥
जो गुण पच्चास दिन स्यूं करै संवत्सरी,
तो पाछला दिन अड़सठ रहै ताय।
जो पाछला दिन गुणंतर राखै तो,
अड़तालीस दिन थी संवत्सरी थाय॥५१॥
इम अड़तालीस दिन थी संवत्सरी न करणी,
दिन अड़सठ पिण नहि राखणा लार।
गुणपच्चास अने गुणंतर दिन जोइए,
तिण रो किण रीत किजे सुविचार॥५२॥
तो आषाढ़ सुद चौदस री करणी चोमासी,
पूनम रा दिन थी अवधार।
गुण-पच्चास दिन थी संवत्सरी करणी,
इम दिवस गुणंतर राखणा लार॥५३॥

---

१. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, अध्याय २०, श्लोक-७३, ७४
उदयवीर शास्त्रीकृत अनुवाद, पृष्ठ-२४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौमासा मांहे जे महीनो बधै तो,
जै बधै ते मास तणा दिन धार।
गुणपच्चास गुणंतर माहें न गिणवा,
ते लुंड महीनो न गिणवो लिगार ॥५४॥
दोय श्रावण हुवै तो दूजा श्रावण में,
संवत्सरी करणी नहीं सोय।
दोय भाद्रवा हुवै तो दूजा भाद्रवा में,
संवत्सरी करणी नहीं कोय ॥५५॥

इसका फलितार्थ संक्षेप में निम्नोक्त प्रकार से कहा जा सकता है—

१. संवत्सरी पर्व से पूर्व ४९ या ५० दिन तथा बाद में ६९ या ७० दिन रहने चाहिए।

२. किसी वर्ष चातुर्मास काल के तीन महीने २९ दिन के तथा एक महीना ३० दिन का होने से ११७ दिन का ही काल रहता है। उसमें ४९ दिन से संवत्सरी की जाए, तो पीछे ६८ दिन शेष रहते हैं और यदि पीछे ६९ दिन रखे जाएं, तो पहले ४८ दिन ही रह पाते हैं। उस स्थिति में आषाढ़ शुक्ला १४ को चातुर्मासिक पाक्षिक दिन करना चाहिए और आषाढ़ पूर्णिमा का दिन मिलाकर ४९ दिन से संवत्सरी की जानी चाहिए। इस क्रम से पीछे भी ६९ दिन रह जाते हैं।

३. वर्षाकाल में अधिकमास हो, उसे गिना न जाए। दो श्रावण हों, तो दूसरे श्रावण के दिनों की गणना पूर्व के ४९ या ५० दिनों में न की जाए और भाद्रपद में संवत्सरी की जाए। दूसरे भाद्रपद के दिनों को अगले ६९ या ७० दिनों की गणना में न लिया जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकता और अनुशासन का प्रतीक : तेरापंथ

लौह-संकल्प

एकता और अनुशासन का स्थान जीवन के हर क्षेत्र में सबसे ऊंचा गिना जाता है। इसके बिना न कोई राष्ट्र उन्नति कर सकता है और न समाज। यहां तक कि धार्मिक संघों के लिए भी ये प्राण तत्त्व गिने जाते हैं। इनकी अवहेलना संगठन के जीवन की अवहेलना सिद्ध होती है। कुछ शताब्दियों पूर्व जैन धर्म ऐसे ही एक संक्रांति-काल से गुजर रहा था। तब संघ छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त था। कोई एक ऐसा समर्थ आचार्य नहीं था, जिसका अनुशासन सर्वमान्य हो सके। ऐसी स्थिति में आचार-विचार की न्यूनता का पनपना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। उन विषम परिस्थितियों ने अवश्य ही अनेक व्यक्तियों के मन को आलोड़ित किया होगा, परन्तु उनसे लोहा लेने का लौह-संकल्प करने वाले अकेले स्वामी भीखणजी ही थे।

चिनगारी की खोज

स्वामीजी एक निर्भीक व्यक्ति थे, सत्य को पाने के लिए उन्होंने अनेक मतों और पंथों का समीपता से निरीक्षण-परीक्षण एवं अध्ययन किया था। आखिर वे आचार्य रघुनाथजी के पास दीक्षित हुए। आठ वर्षों तक लगातार आगमों का गंभीर अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने पाया कि शास्त्रों में जिस आचार-विचार का उल्लेख है, तदनुरूप आचरण यहां नहीं है। तत्कालीन साधुओं के पारस्परिक विद्वेष-पूर्ण व्यवहारों को देखकर भी उनके मन में बड़ी वितृष्णा हुई, उन्हें लगा कि एकता और अनुशासन के संस्कार विलुप्त-प्राय होते जा रहे हैं।

आचार्य रघुनाथजी के सम्मुख सारी स्थिति रखते हुए स्वामीजी ने कहा—'आप गुरु हैं, सारी स्थितियों को सुधारने के अधिकारी हैं, अतः पूर्ण सजगता और कठोरता से कदम उठाकर अभी से इनका प्रतिकार करना चाहिए, अन्यथा ये ही संस्कार बद्धमूल हो जाएंगे।' लगभग दो वर्षों तक गुरु-शिष्य में यह विचार-मंथन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चलता रहा, गुरु ने तब ऊबते हुए कहा—'कलिकाल में जितना आचार पाला जा रहा है, वही कौन-सा कम है ? इससे अधिक की आशा तुम्हें छोड़ देनी चाहिए।' गुरु का रुख जान लेने के पश्चात् स्वामीजी ने अन्य आचार्यों से भी संपर्क किया, परंतु सर्वत्र राख के ढेर ही मिले, चिनगारी का कहीं अता-पता तक नहीं था। उस स्थिति में स्वामीजी ने अपने ही बल-बूते पर कार्य करने का निश्चय किया।

तेरापंथ

स्वामीजी ने वि० संवत् १८१७ की गुरु-पूर्णिमा (आषाढ पूर्णिमा) के दिन नये संघ की स्थापना की। प्रारंभ में उनके सहयोगी १३ साधु और १३ ही श्रावक थे, अतः लोगों ने उन्हें तेरापंथी कहना प्रारंभ कर दिया। स्वामीजी को जब यह पता चला तो उन्होंने उस नाम को स्वीकार करते हुए कहा—'हे प्रभो ! यह तेरापंथ।' नाम की संख्या-परकता को भी कायम रखते हुए उन्होंने कहा—'पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति—इन तेरह नियमों की यथार्थ पूर्णता को जो अपना लक्ष्य बनाकर चलता है, वह तेरापंथी है।' इस प्रकार दूसरों के द्वारा दिये गये नाम को स्वामीजी ने अपनी अर्थवत्ता से उपादेय तो बनाया ही, अतिशायी भी बना दिया।

संविधान

स्वामी भीखणजी ने संगठन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अनेक नियम बनाये। उन्होंने उनको मर्यादा नाम प्रदान किया। आज की भाषा में हम उसे संविधान कह सकते हैं। मर्यादाएं स्वामीजी ने बनायीं, परंतु प्रत्येक साधु-साध्वी को समझाकर उनकी स्वीकृति लेने के पश्चात् उन्हें लागू किया। उन्हें एकतंत्र और लोकतंत्र का अद्भुत मिश्रण कहा जा सकता है। स्वामीजी के सम्मुख उस समय मुख्यतः चार बिंदु थे—सम्यक् आचार और सम्यक् विचारों का संरक्षण एवं प्रवर्धन तथा एकता और अनुशासन का संस्थापन। चारों ही बातों में स्वामीजी को परिपूर्ण सफलता मिली। तेरापंथ आज एक आचार और एक विचार के लिए प्रसिद्ध है। उसी प्रकार एकता और अनुशासन का तो वह एक प्रतीक बन गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि तेरापंथ में कभी कोई मतभेद होता ही नहीं। वह होता है, परंतु स्वामीजी ने मतभेदों को समाहित करने के लिए तीन उपाय बतलाये हैं, उनसे वे बहुधा समाप्त हो जाते हैं। उनमें प्रथम उपाय है कि आगमज्ञ विद्वानों के साथ बैठकर तद्विषयक चर्चा करो। अपनी बात समझाओ और उनकी समझो। उतने से यदि समाधान प्राप्त न हो पाये तो दूसरा उपाय है कि आचार्य जो निर्णय दे, उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लो। उसके लिए भी मन साक्षी न दे तो तीसरा और अंतिम उपाय है कि अपने ज्ञान की अपूर्णता को ध्यान में रखकर उस प्रश्न को सर्वज्ञ के चरणों में समर्पित कर दो। अर्थात् भविष्य में कभी समाहित हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने की आशा में उसे गौण कर दो, क्योंकि तुम सर्वज्ञ नहीं हो, अतः तुम्हें जो लग रहा है, वही सत्य है, औरों का अनुभव असत्य है, ऐसा आग्रह करने का कोई कारण नहीं है। जो इन तीनों में से किसी भी उपाय को स्वीकार नहीं कर सकता। उसके लिए स्वामीजी ने कहा है कि उसे संघ से पृथक् हो जाना चाहिए, आत्म-वंचनापूर्वक संघ में रहने का कोई लाभ नहीं।

वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में

प्रतिवर्ष आषाढी पूर्णिमा के दिन तेरापंथ अपना स्थापना दिवस मनाता है। वर्त्तमान में उसके अनुशास्ता हैं—आचार्यश्री तुलसी। वे इस संघ के नवम आचार्य हैं। इस समय सात-सौ से अधिक साधु-साध्वियां उनके निर्देश से समग्र भारत में विहार कर रही हैं। जन-जीवन में धार्मिक संस्कार भरना, दुर्व्यसन-मुक्ति, अहिंसक आचार-व्यवहार, आमिष भोजन का परित्याग, असांप्रदायिक भाव से जन-जन को अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से नैतिकता और सदाचार की प्रेरणा देना उन सबका लक्ष्य होता है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी पदयात्राओं से प्रायः समग्र भारत का भ्रमण किया है। लाखों व्यक्तियों को उन्होंने व्यसन-मुक्त किया है। अणुव्रत आंदोलन के रूप में जन-जन तक उनकी आवाज पहुंची है। राष्ट्रपति-भवन से लेकर गरीब की झोंपड़ी तक उनका निर्बाध प्रवेश है।

तेरापंथ ने आज तक व्यसन-मुक्ति और धार्मिक संस्कार-दान के रूप में जन-सेवा की है, भविष्य में भी वह और तीव्रगति से की जाती रहेगी, ऐसी उससे आकांक्षा की जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युग-परिप्रेक्ष्य में मर्यादा-महोत्सव

वर्तमान युग को समस्या-संकुल युग कहा जा सकता है। जिधर भी दृष्टिक्षेप किया जाता है उधर अनेकानेक समस्याएं सुरसा की तरह मुंह बाये दृष्टिगत होती हैं। सामान्य जन-जीवन से लेकर अध्यात्म-जगत् तक में समस्याओं की कड़ियां आगे से आगे जुड़कर ऐसी सुदृढ़ शृंखला बन गयी हैं, जिसके बन्धन से बचकर रह पाना प्रायः असम्भव-सा बन गया है। यही कारण है कि आज छात्रों से लेकर नेताओं तक में अनुशासनहीनता की एक अवर्जनीय होड़ लगी हुई है। व्यक्तियों, संस्थाओं और जातियों आदि में अपनी-अपनी पृथक् पहचान की अंधी आतुरता इतने भयंकर अविवेक तक पहुंच चुकी है कि उससे राष्ट्रहित के भी खण्डित होने का भय होने लगा है। हर समस्या को अपनी ही धारणा के अनुकूल हल करने की ललक ने हिंसा और आतंक का ऐसा तांडव नृत्य प्रारम्भ कर दिया है कि हर चिन्तक किंकर्त्तव्य-विमूढ़ दिखाई देने लगा है। भ्रातृत्व, मैत्री और पारस्परिकता की सहस्रों-सहस्रों वर्षों के आचरण से सुपुष्ट की गयी परम्परा की धज्जियां उड़ा देने के लिए इस समय हर किसी के हाथ मानो अकुला रहे हैं। इन सब स्थितियों को देखकर यही प्रतीत होता है कि आज के प्रायः सभी सक्रिय हाथ अपनी-अपनी पहुंच तक मर्यादा की पांचाली के चीरहरण की प्रक्रिया में जुड़े हुए हैं।

युग के इस परिप्रेक्ष्य में जब कहीं मर्यादा के उपलक्ष्य में कोई महोत्सव मनाया जाता है तो वह किसी आश्चर्य से कम नहीं होता। लगता है किसी कृष्ण का अदृश्य हाथ आज भी मर्यादा की उस पांचाली की लाज बचाने को कृत-प्रतिज्ञ है। इससे एक प्रबल आशा एवं विश्वास के जागरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकती है।

तेरापंथ में मर्यादा-महोत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता है। अन्य महोत्सवों की तरह यह कोई आमोद-प्रमोद, नृत्य-संगीत, भोज या भाषणबाजी का उत्सव नहीं है। यह तो विशुद्ध कर्त्तव्य-बोध का प्रेरक उत्सव है। इसमें कर्त्तव्य-बुद्धि के आधार पर पवित्रता, एकता और नियमानुवर्तिता की आत्म-स्वीकृत प्रतिबद्धता को यथावत् सुरक्षित रखने के संकल्प को सामूहिक रूप से दुहराया जाता है। यह महोत्सव तेरापंथ के संविधान-पूर्ति-दिवस के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष पूर्व घोषित स्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर मनाया जाता है। इस अवसर पर रुग्णता, वृद्धता या आज्ञाप्त आदि कुछ अपवादों के अतिरिक्त शेष सभी साधु-साध्वियां पदयात्रा करते हुए आचार्यश्री के सान्निध्य में उपस्थित होते हैं। साधारणतया तीन सौ, चार सौ से छह सौ तक साधु-साध्वियां तथा पचीस-तीस हजार से पचास हजार तक श्रावक-श्राविका-गण उपस्थित होकर आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन में कृत कार्यों के प्रति चिंतन-मंथन तथा करणीय कार्यों का निर्धारण करते हैं।

तेरापंथ जैन धर्म की एक शाखा है। इसका उद्भव वि० सं० १८१७ आषाढ़ पूर्णिमा को हुआ। इसके आद्य प्रणेता आचार्यश्री भिक्षु ने नवोद्गत संघ के बद्ध-मूल हो जाने के पश्चात् सुव्यवस्थित प्रगति और सुस्थिर अस्तित्व के लिए एक संविधान बनाया। वह वि० सं० १८५९ माघ शुक्ला सप्तमी को सम्पन्न हुआ। उसी दिन को आधार मानकर तेरापंथ के चतुर्थ आचार्यश्री जयाचार्य ने सं० १९२१ में उक्त संविधान के उपलक्ष्य में मर्यादा-महोत्सव मनाने की घोषणा की। तब से यह बराबर प्रति-वर्ष मनाया जा रहा है।

यह महोत्सव आध्यात्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं का एक मूर्त्त प्रतीक बन गया है। समान आचार, समान विचार और समान चिंतन की भूमिका का निर्माण करने में भी इसका महनीय योगदान रहा है। संघ के योगक्षेम में आधारभूत उन मर्यादाओं में से कुछ का यहां उल्लेख करना प्रसंगोपात्त ही होगा।

१. तेरापंथ में एक ही आचार्य होगा और सभी साधु-साध्वियां उसी के निर्देश में चलेंगे।

२. सबके लिए विहार या चातुर्मास का निर्धारण आचार्य द्वारा ही होगा।

३. सभी दीक्षित एकमात्र आचार्य के शिष्य होंगे, किसी को अपना व्यक्तिगत शिष्य बनाने का अधिकार नहीं होगा।

४. पूरे परीक्षण के पश्चात् योग्य व्यक्ति को ही अभिभावकों की लिखित आज्ञा प्राप्त होने पर दीक्षित किया जा सकेगा।

५. उत्तराधिकारी की नियुक्ति करने का अधिकार एकमात्र आचार्य को ही होगा।

६. चर्या में उपयोगी प्रत्येक वस्तु समग्र संघ की होगी। किसी का उन पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होगा।

७. संघ का प्रत्येक सदस्य संविभाग का अधिकारी होगा।

८. पूर्व मर्यादाओं में परिवर्तन, परिवर्धन या संशोधन तथा नयी मर्यादाओं का निर्माण आचार्य द्वारा नियुक्त समिति में सुचिंतित होने के पश्चात् आचार्य की स्वीकृति होने पर ही मान्य होगा।

९. संघ की साधना-पद्धति में पूर्ण विश्वासी की ही सदस्यता मान्य होगी। अन्यथा उसे अनिवार्यतः सदस्यतामुक्त होना होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त मर्यादाओं ने श्रमण-संघ को सामूहिक जीवन की दिशाएं तो प्रदान की ही, सबलता और प्रगति के द्वार भी खोले। वर्तमान में इस संघ के सुचारु संचालन का दायित्व नवम अधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी के कंधों पर है। वे स्वयं मर्यादाओं का परिपूर्ण पालन करते हैं, अतः दूसरों को उस विषय में मार्ग-दर्शन देने के अधिकारी भी हैं। मर्यादा-महोत्सव के इस पुनीत पर्व पर वे अपने अनुयायियों की मर्यादानुवर्तिता का निरीक्षण-परीक्षण तथा मार्गदर्शन तो करते ही हैं, साथ ही समग्र देश की जनता को भी मर्यादा के प्रति सजग और निष्ठाशील बनाने का प्रयास करते रहना अपना कर्त्तव्य मानते हैं।

भारतीय जनता स्वभावतः मर्यादापालक रही है, परन्तु वर्तमान की कलुषित राजनीति, दलीय स्वार्थों के अंधे व्यामोह तथा भ्रान्त मंत्रणाओं एवं धारणाओं ने उसे पथ से विचलित कर दिया है। ऐसी विपन्नावस्था में संतजनों का ही कार्य है कि उसे मार्गस्थ करने का भार वे स्वयं अपने कंधों पर लें। इस कार्य से जहां भारतीय जनता का कल्याण होगा, वहां मर्यादा-महोत्सव जैसे आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक पर्व की सार्थकता को भी चार चांद लग जाएंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मर्यादा-महोत्सव : सांस्कृतिक पर्व

मर्यादा-महोत्सव तेरापंथ का एक सांस्कृतिक पर्व है। हर धर्म तथा समाज में विभिन्न आधारों पर विभिन्न पर्व मनाये जाते हैं, परन्तु 'संविधान' के आधार पर कहीं कोई पर्व मनाया जाता हो, ऐसा सुनने तथा देखने में नहीं आया। जैन धर्म की शाखा 'तेरापंथ' ही एक ऐसा संगठन है, जो अपने संविधान की पूर्ति के उपलक्ष्य में शताब्दी से भी अधिक समय से ऐसा पर्व मनाता आया है। इस धर्म-संघ के संस्थापक आचार्य भिक्षु ने एकता और पवित्रता बनाये रखने के लिए जो नियम बनाये, उनका उन्होंने 'मर्यादा' नामकरण किया। युग की भाषा में आज हम उसे 'संविधान' कह सकते हैं। इस संविधान की सम्पन्नता माघ शुक्ला सप्तमी को हुई थी, अतः प्रति वर्ष उसी दिन उसकी पुण्य-स्मृति में मर्यादा-महोत्सव नाम से यह पर्व मनाया जाता है। राष्ट्र के वर्तमान वातावरण के परिप्रेक्ष्य में मर्यादा-महोत्सव जैसे पर्व की बात निश्चय ही एक अजीब और असामयिक प्रवृत्ति लग सकती है, परन्तु साथ ही यह उतनी ही आशाप्रद भी कही जा सकती है। जहां चारों ओर से मर्यादा भंग की ही घटनाएं सुनने को मिलती हों, राजनेताओं से लेकर विद्यार्थियों तक सभी तबकों के लोग जहां संघटन के स्थान पर विघटन में ही अपनी शक्ति लगा रहे हों और जहां धन-जन की सुरक्षा आशंकाओं के घेरे में पड़ी हो, वहां मर्यादा या कानून की याद दिलाने वाला यह पर्व मार्ग-दर्शन का कार्य कर सकता है।

यह पर्व भारतवर्ष की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं का एक मूर्त प्रतीक है। समान आचार, समान विचार और समान चिन्तन की भूमिका का निर्माण करने में इस पर्व ने बहुत बड़ा कार्य किया है। श्रमण-संघ में जिस समय अनेक शिथिलताओं ने घर कर लिया था, उस समय उनके निराकरण और सम्यक् आचार के संस्थापन तथा संरक्षण के लिए इस पर्व की आधारभूत मर्यादाओं का निर्माण हुआ था।

संगठन छोटा हो चाहे बड़ा, राजनीतिक हो चाहे धार्मिक, उसे सुव्यस्थित चलाने के लिए अनुशासन की और अनुशासन के लिए नियमों की आवश्यकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती ही है। आचार्य भिक्षु ने इस धार्मिक संगठन के लिए जो नियम बनाये, उनको उन्होंने 'मर्यादा' शब्द से अभिहित किया। नियम या शासन शब्द की अपेक्षा 'मर्यादा' शब्द अधिक भावपूर्ण एवं संगत प्रतीत होता है। नियम शब्द से नियंता एवं नियंत्रित के तथा शासन शब्द से शासक और शासित के भावों की ओर ध्यान जाता है, साथ ही एक बाध्यता की-सी स्थिति अनुभूत होने लगती है, परन्तु 'मर्यादा' शब्द से बाध्यता रहित केवल कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की सीमा का बोध होता है। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाएं बनायीं, उन्हें तत्कालीन साधु-समुदाय से पूछकर, उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात् ही संघ में लागू किया। वे लिखते हैं—"सर्व साधु-साध्वियां नै पूछीनै, वां कनां सूं कहिवाय नै मरजादा बांधी छै··· जिणरा परिणाम चोखा हुवै ते आरै हुइज्यो, कोई सरमासरमी रो काम छै नहीं, मूंढै ओर नै मन में और इमतो साधु नै करणो छै नहीं।"

आचार्य भिक्षु व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बहुत मूल्यवान् समझते थे, अतः उसमें किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न करने में उनकी कोई रुचि नहीं थी, परन्तु निरंकुश छूट देकर संघ में प्रमाद को बढ़ावा देना भी उन्हें अभीष्ट नहीं था। दोनों का संतुलन बिठाने के लिए ही उन्होंने ऐसी मर्यादाओं का निर्माण किया, जिनकी आवश्यकता संघ के साधु-साध्वियों को भी प्रतीत हुई। इसीलिए तेरापंथ की मर्यादाएं शासक द्वारा थोपी गयी न होकर स्वयं शिष्यों द्वारा संयम की भूमिका पर आत्म-स्वीकृति से समुद्भूत हैं। आत्म-संयम की स्थिति में मर्यादाएं परतंत्रता की बेड़ियां न होकर परम स्वतंत्रता की जननी बन जाती हैं। वे साधक के विवेक को जागृत रखती हैं और भटकन से बचाती हैं। आत्मस्वीकृति ही मर्यादाओं की पवित्रता की सीमा-रेखा है। उसके अभाव में केवल बाह्य दबाव या भय उन्हें अपवित्र बना डालता है।

संघ में दीक्षित व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों से आये हुए होते हैं। उनका खान-पान, भाषा-भूषा एवं संस्कार आदि काफी भिन्नता लिये होते हैं, फिर भी यहां आकर वे समान मर्यादाओं का आधार पाकर बंधु बन जाते हैं और साध्य-बिंदु पर एकात्मकता का अनुभव करते हैं। यही कारण है कि बड़ी संख्या में एकत्रित होकर भी वे शांत सहवास में समाधिपूर्वक वैसे ही रह लेते हैं जैसे एक शरीर में उसके सहस्रों अवयव।

संघीय जीवन में व्यक्ति को अपनी निस्सीम स्वतंत्रता के कुछ अंशों का बलिदान करना होता है। अकेला व्यक्ति यथारुचि रह सकता है परन्तु समष्टि में रहने वाले को अपनी रुचि के कोणों को इस प्रकार से घिस लेना पड़ता है कि वे समष्टिगत किसी अन्य व्यक्ति के रुचि-कोणों से न टकरा पाएं। प्रत्येक संगठन पारस्परिकता का आधार पाकर खड़ा होता एवं पनपता है। धार्मिक संगठन भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेरापंथ एक धार्मिक संगठन है। आत्म नैर्मल्य की साधना में पारस्परिक सहयोग करना उसका लक्ष्य है। संगठन है तो उसे बनाये रखने के लिए मर्यादाएं भी हैं। मर्यादा अर्थात् अनुशासन। जो अनुशासित नहीं होता, वह लक्ष्य के प्रति— असंदिग्ध एवं निर्णीत गति नहीं कर पाता। अनुशासित होना संगठन के लिए जितना आवश्यक है उससे भी कहीं अधिक वह अपनी प्रगति के लिए आवश्यक होता है। जैनाचार्यों ने अनुशासनहीन समाज को अस्थि-संघात मात्र माना है, उसमें कोई प्राणवत्ता और क्रियाशीलता नहीं होती। ऐसे संगठन शीघ्र ही अपना अस्तित्व खो देते हैं।

अनुशासन जब हृदय की पवित्रता से पाला जाता है तब वह व्यक्ति के चरित्र विकास का द्योतक होता है और जब दंड की नीति से पाला जाता है तब विवशता का। हृदय की पवित्रता व्यक्ति को आचरण की ओर प्रवृत्त करती है। पवित्रता के अभाव में दंड की नीति ही कार्य करवाती है। परन्तु वहां कार्य किया नहीं जाता, करवाया जाता है। वह संगठन की अस्वस्थता का ही द्योतक है।

तेरापंथ एक सुमर्यादित एवं स्वस्थ संगठन है। उसके आद्य प्रणेता आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाएं निर्मित कीं वे संघ को सुव्यवस्था प्रदान करने वाली तो थीं ही, साथ ही व्यक्ति के स्वातंत्र्य का भी आदर करने वाली थीं। ऐसी मर्यादाएं जीवन को समृद्ध करने वाली होती हैं, कुंठित नहीं। कुण्ठा तब उत्पन्न होती है, जब मर्यादा लादी जाती है। आचार्य भिक्षु ने ऐसा कभी नहीं किया। उन्होंने जो भी मर्यादा पत्र लिखे, साधुगण की सम्मति प्राप्त करने के पश्चात् ही उन्हें अंतिम रूप प्रदान किया।

तेरापंथ धर्मसंघ की तृतीय शताब्दी का यह चतुर्थ दशक चालू हुआ है। समय-गणना की दृष्टि से यह एक अर्वाचीन धर्मसंघ है। जनमानस में प्राचीनता के साथ जो गौरवानुभूति तथा लगाव होता है, वह अर्वाचीनता के साथ प्रायः नहीं होता, परन्तु तेरापंथ को इसका अपवाद कहा जा सकता है। उसने न केवल अपने अनुयायियों के मन में ही, अपितु अन्य जनों के मन में भी एक आदरास्पद स्थान बनाया है। प्रत्येक अनुयायी तेरापंथ को अपना अभिन्न अंग मानकर चलता है। यह लगाव किसी के द्वारा ऊपर से थोपा हुआ नहीं, किन्तु स्वाभाविक होता है।

आचार्य भिक्षु बड़े दूरदर्शी और सूझ-बूझ वाले थे। उन्होंने अपने युग के अनेक धर्म-संघों को टूटते एवं बिखरते देखा था। कोई भी महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत महिमा बढ़ाने के लिए नया संगठन बनाता और वह उसका संचालक बनकर गुरुपद पर आसीन हो जाता। आचार्य भिक्षु इस प्रकार की वैयक्तिक मानसिकता को धर्म-संघ के लिए अत्यन्त विनाशक मानते थे। इसे रोकने के लिए उन्होंने विभिन्न प्रकार की मर्यादाओं का निर्माण किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन मर्यादाओं ने श्रमण-संघ को सामूहिक जीवन की दिशाएं तो दीं ही, उस ओर बढ़ने के लिए उपयुक्त वातावरण का भी निर्माण किया। जो मर्यादाएं लगभग सवा दो सौ से अधिक वर्ष पूर्व दस-बारह व्यक्तियों के नवगठित संघ के लिए बनायी गयी थीं, वे ही आज सात सौ सन्तजनों तथा लाखों अनुयायियों की अतुल शक्ति की संवाहक बनी हुई हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रत आन्दोलन : एक परिचय

प्रगति और प्रतिगति

महारथी कर्ण को जब सूत-पुत्र होने के कारण अवज्ञा का सामना करना पड़ा, तब उन्होंने अपनी ओर से स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'**दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्**'। अर्थात्—कौन से कुल में मेरा जन्म हो, यह निर्णय करना मेरे वश की बात नहीं थी। यह तो दैवाधीन थी, परन्तु अब मुझे जो कुछ बनना है, उसके लिए सम्पूर्ण पौरुष के साथ जुट जाना मेरे वश की बात है। उसमें कहीं कमी रहती हो तो वह मेरी ही खामी कही जा सकती है। कर्ण की उपर्युक्त बात आज के हर मनुष्य का मार्ग-दर्शन करने वाली है। हमें जीवन प्राप्त हुआ है, यह प्रकृति की एक सहज प्रक्रिया है, परन्तु उस जीवन को उन्नत या अवनत बनाने में हमारा पौरुष ही उत्तरदायी है। हमारा जीवन कैसा होना चाहिए, इसका निर्णय हमारे अतिरिक्त कोई दूसरा करने वाला नहीं है। हमारे लिए हम ही निर्णय और तदनुरूप पौरुष करने के अधिकारी हैं।

गति मनुष्य के स्वभाव में रमी हुई है। वह कहीं भी हो, विपन्न या सम्पन्न किसी भी अवस्था में हो, एक रूप में स्थिर होकर बैठा नहीं रह सकता, कुछ-न-कुछ गति अवश्य करता है। वही गति यदि विवेक के प्रकाश में की जाती है, प्रगति बन जाती है, अन्यथा प्रतिगति। प्रगति उसके विकास और उन्नति का बीज है, तो प्रतिगति ह्रास और अवनति का। पौरुष की सार्थकता उन्नति और विकास में ही है, अवनति और ह्रास में नहीं।

उत्थान और पतन तथा विकास और ह्रास भौतिक क्षेत्र में भी होता है और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी। भौतिक क्षेत्र के उत्थान और पतन का मापदण्ड आर्थिक विकास होता है और आध्यात्मिक क्षेत्र के उत्थान-पतन का मापदण्ड होता है, चारित्रिक विकास। प्रथम प्रकार का विकास मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और द्वितीय प्रकार का विकास आत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। मनुष्य शरीर आत्मा का एक सम्मिलित रूप है। न वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल शरीर ही है और न केवल आत्मा ही। भूख शरीर को भी लगती है और आत्मा को भी। साधारणतया न शरीर को भूखा रखा जा सकता है और न आत्मा को ही। आत्मा परितृप्त हो और शरीर भूखा हो तो क्वचित् मनुष्य निभा भी लेता है, परन्तु शरीर परितृप्त हो और आत्मा भूखी, तब तो किसी भी प्रकार से निभा पाना कठिन है। उस स्थिति में मनुष्य का पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। भारत की जनता आज कुछ ऐसी परिस्थितियों में गुजर रही है कि वह अभी तक न अपने भूख का कोई समुचित समाधान खोज पायी है और न भूखी आत्मा का। अनेक पंचवर्षीय योजनाओं की पूर्ति के बावजूद अभी समस्या जहां की तहां है। उनमें शारीरिक आवश्यकताओं मात्र की भी पूर्ति नहीं की जा सकी है। आत्मिक पक्ष की तो वहां सर्वथा उपेक्षा ही की गई है।

आन्दोलन का उत्स

आचार्यश्री तुलसी ने आत्म-पक्ष के उस अपेक्षित क्षेत्र में कार्य करने के लिए सन् १९४९ में अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात किया। एक छोटी-सी घटना इसका कारण बनी। राजस्थान के एक छोटे कस्बे छापर में आचार्यश्री तुलसी का चातुर्मासिक प्रवास था। एक दिन उनके उपपात में अनौपचारिक विचार-चर्चा करते हुए किसी भाई ने कहा—'आज की परिस्थितियों में नैतिकता का पालन कर पाना असम्भव है। आस्था के इस अधःपतन को देखकर आचार्यश्री का भगवान्-प्रधान हृदय सिहर उठा। उन्हें लगा, जन-मानस की आस्था का महल डगमगाने लगा है। यदि समय पर इसे नहीं सम्हाला गया तो यह शीघ्र ही धराशायी हो जायेगा।

उसी दिन उन्होंने अपने प्रातः कालीन प्रवचन में सहस्रों की संख्या में उपस्थित जन-समूह को आह्वान करते हुए कहा—'धर्म केवल उपासना का ही तत्त्व नहीं है। उससे जीवन का हर व्यवहार प्रकाशित होना चाहिए। उपासना-गृह में स्वयं को धार्मिक अनुभव करने वाला व्यक्ति बाहर आकर यदि वंचक बन जाता है, तो यह आत्म-वंचना के साथ-साथ जनता के साथ भी धोखा है। ऐसे व्यक्तियों की बहुलता राष्ट्र के नैतिक स्तर को नीचा कर देती है और अनैतिकता की बाढ़ ला देती है। इस सर्वग्रासी बाढ़ को रोकने के लिए मैं आज आप लोगों में से केवल पचीस व्यक्तियों की मांग करता हूं। क्या मैं आशा करूं कि मार्गस्थ सभी खतरों का सामना करने को कृत-संकल्प होकर नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा में अपना सर्वस्व लगा देने वाले पचीस व्यक्ति इस परिषद में से मुझे मिल जायेंगे?'

आचार्यश्री तुलसी के इस आह्वान से वातावरण में एक गम्भीरता छा गई। उपस्थित व्यक्ति अपने-अपने आत्म-बल को तोलने लगे। सहसा ही कुछ व्यक्ति खड़े हुए और उन्होंने अपने-अपने नाम प्रस्तुत किए। धीरे-धीरे पचीस की वह संख्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरी हो गई। यह छोटी-सी घटना अणुव्रत-आन्दोलन की नींव का पहला पत्थर बनी।

लक्ष्य और साधन

इस छोटी-सी भूमिका से प्रारम्भ हुआ यह आन्दोलन क्रमशः प्रगति करता रहा है। राष्ट्र के छोटे-बड़े सभी व्यक्तियों का इसने अपनी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इस आन्दोलन का लक्ष्य है—

(क) मनुष्य को आत्म-संयम की ओर प्रेरित करना।

(ख) मैत्री, एकता और शान्ति की स्थापना करना।

(ग) शोषण-विहीन और स्वतंत्र समाज की रचना करना।

अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन भी शुद्ध ही होने चाहिए, ऐसा आचार्यश्री का विश्वास है, अतः इस आन्दोलन को वे हृदय-परिवर्तन का आन्दोलन कहते हैं। वैचारिक क्रान्ति के द्वारा वे अप्रामाणिकता, संग्रहवृत्ति, शोषण और अन्य अनैतिक वृत्तियों के प्रति जन-मानस को विरक्त कर देना चाहते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति से सम्पर्क कर उनमें व्रत का शुद्ध जीवन का संकल्प जगाना चाहते हैं। ये साधन लक्ष्य-प्राप्ति में विलम्बकारी तो हो सकते हैं, परन्तु लक्ष्य से भटकने नहीं देते, विपरीत फल नहीं लाते।

असाम्प्रदायिक

आन्दोलन का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है, अतः केवल चरित्र-विकास की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए—धर्म, जाति, राष्ट्रीयता आदि भेदों से मुक्त होकर यह सभी के लिए समान-भूमिका पर साधना का मार्ग प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि इसमें हिन्दू, सिख, मुसलमान, ईसाई और जैन आदि सभी धर्मों के लोग सम्मिलित हैं। मूलतः इसके नियम सभी धर्मों के मान्य सिद्धान्तों का समन्वित रूप हैं।

व्यवहार धर्म

अणुव्रत-आन्दोलन मानता है कि सत्य और अहिंसा केवल मान्यता के ही धर्म नहीं हैं, वे जीवन के हर क्षेत्र में व्यवहार्य भी हैं। जब-जब ये व्यवहार्य कोटि से हटते हैं, तब-तब मानव के हर व्यवहार में अनैतिकता छा जाती है, कथनी और करनी भिन्न हो जाती है, मनुष्य का तब अधःपतन हो जाता है। वर्तमान में जो आपाधापी मची हुई है, वह इसी का दुष्परिणाम है। अणुव्रत आन्दोलन चाहता है कि यह स्थिति विघटित हो और मनुष्य में सात्त्विक भावों का जागरण हो। सुख-समृद्धि की आकांक्षा हर किसी को हो सकती है, परन्तु वह नैतिक साधनों से ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्जित की जाये या अन्यथा भी, यही आज का मुख्य प्रश्न है। जो लोग हिंसा में विश्वास करते हैं, वे लूट-खसोट से, मार-धाड़ से, दूसरों को आतंकित करते हैं। सुख-समृद्धि को बांटने के बजाय लूट लेना चाहते हैं, नव-सर्जन के स्थान पर विनाश करते हैं। वे अपने पौरुष का दुरुपयोग करते हैं। उनके उस पौरुष का सदुपयोग हो सकता है, यदि वे नव-निर्माण में लगें। उत्थान और समृद्धि विनाश से नहीं, नव-सर्जन से उत्पन्न होती है। आदमी का पौरुष तोड़ने में नहीं, जोड़ने में लगना चाहिए। यही अणुव्रत आन्दोलन की भावना का मूल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रत के सन्दर्भ में व्यक्ति और समाज

सुधार की प्रयत्न-शृंखला

अणुव्रत आत्म-सुधार की एक क्रमिक प्रयत्न-शृंखला है। पत्थर जैसा होता है, वैसा ही सहस्रों वर्षों तक पड़ा रह सकता है। प्रकृति ही स्वयं जो कुछ उसमें अन्तर कर दे तो चाहे कर दे, वह स्वयं अपने लिए कुछ नहीं करता। मनुष्य वैसा जड़ नहीं है। वह उतना प्रकृति-परायण भी नहीं है। लम्बे समय तक किसी भी एक स्थिति में पड़े रहना उसे पसन्द नहीं है। वह अपने आपमें परिवर्तन चाहता है। अच्छा हो या बुरा, ऊंचाई की ओर हो या ढलाव की ओर, सुधार हो या बिगाड़, ये सभी बातें बाद की हैं, पहली बात तो परिवर्तन की ही है। मनुष्य जब यह सोचना प्रारम्भ करता है कि उसमें कौन-सा परिवर्तन होना चाहिए और कौन-सा नहीं, तब वह विवेक-जागृति की अवस्था में होता है। उस अवस्था में वह प्रायः अच्छाई, ऊंचाई और सुधार का निर्णय करता है, बुराई, ढलाव और बिगाड़ का नहीं।

शास्त्रकारों ने विवेक को धर्म इसलिए कहा है कि वह उसे सत् की ओर प्रेरित करता है और असत् से बचने की दृष्टि देता है। विवेक जागता होता है, तब मनुष्य का भाग्य और कर्त्तव्य दोनों जागते होते हैं। उसके सो जाने पर वे भी सो जाते हैं। विवेक जागृत रहे, यह मनुष्य के लिए सदैव अपेक्षणीय है, क्योंकि आत्म-सुधार का मूल यही है। इसी के आधार पर मनुष्य जहां है, उससे आगे बढ़ने को प्रयत्नशील होता है और जैसा है, उससे अधिक अच्छा बनने का प्रयास करता है। विवेक पूर्ण इसी सुधार-परम्परा को अणुव्रत कहा जाता है।

अणु और व्रत

'अणु' यह इसलिए है कि मनुष्य अपनी शक्ति को तोलकर उसे यथा-शक्ति ग्रहण करता है। अधिक शक्ति वाले उससे बड़ा व्रत भी ग्रहण कर सकते हैं। वह पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रत या महाव्रत होता है। उसी की अपेक्षा से इसे अणु अर्थात् छोटा व्रत कहा जाता है।

'व्रत' यह इसलिए है कि इसमें विवेकपूर्ण संकल्प होता है। यह संकल्प आत्म सुधार में जहां स्थायित्व प्रदान करता है, वहां परिस्थिति-प्रेरित झंझाओं से जूझने की शक्ति भी देता है। असंकल्पित निर्णय अधूरे और कच्चे होते हैं। परिस्थिति, आवश्यकता और प्रलोभन आदि से प्रेरित होकर मनुष्य बहुधा उन्हें सहज रूप में ही बदल डालते हैं परन्तु जो संकल्पित निर्णय होते हैं, उन्हें प्राणों तक की बाजी लगाकर पूरा करने का प्रयास करते हैं। इसमें वैयक्तिक स्तर पर कहीं कुछ शिथिलता भी हो सकती है, परन्तु वह आपवादिक होती है। व्रत की भावना में सर्वत्र यही उद्दिष्ट होता है कि उसे प्राण-पण से पाला जाये, फिर चाहे वह व्रत 'महा' हो या 'अणु', पूर्ण हो या यथाशक्ति।

व्यक्ति या समाज

आत्म-सुधार की बात ऊपर कही गई है। उसके एक अन्य पहलू पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। भारतीय परम्परा में प्रायः प्रत्येक बात को अध्यात्म या धर्म के प्रकाश में देखा जाता है, इसलिए, वहां आत्म-सुधार पर विशेष बल दिया जाता है, जबकि अन्यत्र यह माना जाता है कि व्यक्ति का सुधार तब तक असम्भव है, जब तक कि समग्र समाज को ही सुधार के लिए विवश नहीं कर दिया जाता। सामाजिक परिस्थितियों के बिगड़ने पर आदमी बिगड़ता है और उनके सुधर जाने पर वह सुधर जाता है। आत्म-सुधार या व्यक्ति-सुधार की बात निरर्थक है। कुछ व्यक्ति यदि अपने आपको सुधारते भी हैं तो वे आखिर तक निभ नहीं पाते। ज्यों-त्यों निभते भी हैं तो परिणाम यह होता है कि मानसिक स्तर पर वे समाज से अत्यन्त दूर पड़ जाते हैं और समाज को सभी बुराइयों का मूल मानते हुए ही वे फिर जी पाते हैं।

उपर्युक्त सभी बातें वस्तुतः अध्यात्म-परम्परा वाले के लिए ध्यान देने योग्य हैं। परन्तु साथ में यह भी कह देना चाहिए कि समाज-सुधार के पक्षधरों के लिए भी व्यक्ति-सुधार या आत्म-सुधार की बात उतनी ही ध्यान देने योग्य है।

व्यक्तिहीन समाज का कहीं कोई अस्तित्व नहीं होता। समाज का विशाल भवन व्यक्ति की ईंटों से ही बनता है। कच्ची और टेढ़ी-मेढ़ी ईंटों से पक्के और सुन्दर भवन के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती। समाज के अच्छे या बुरे होने का निर्णय उस समाज के व्यक्तियों के अच्छे या बुरे होने पर ही निर्भर होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक दूसरे के पूरक

मूल बात यह है कि व्यक्ति-सुधार और समाज-सुधार दोनों परस्पर अनूस्यूत हैं, जैसे कि वस्त्र में ताना-बाना होता है। दोनों में से न किसी एक की उपेक्षा की जा सकती है और न किसी को गौण ही कहा जा सकता है। उनमें से यदि किसी की मुख्यता या गौणता का प्रतिपादन किया जाता है तो वह अपेक्षा-दृष्टि से ही होता है, सर्वथा नहीं। जितना सत्य यह है कि व्यक्ति-सुधार के बिना समाज-सुधार अस्तित्व में नहीं आ सकता, उतना ही यह भी सत्य है कि समाज-सुधार के अभाव में व्यक्ति सुधार का टिक पाना कष्ट-साध्य हो जाता है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक होते हैं। उसी तरह उनके सुधारों में भी कोई विरोध न होकर पूरकता ही होती है।

समन्वित रूप

समाज किसी भी आदर्श के सर्वोच्च शिखर तक नहीं पहुंच पाता। वह पूरा प्रयास करने पर भी मध्यम कोटि तक ही पहुंच सकता है, परन्तु व्यक्ति वहां तक पहुंच सकता है। कहना तो यह चाहिए कि व्यक्ति अपनी साधना से जिस शिखर तक पहुंचता है, वही फिर समाज के लिए आदर्श या सर्वोच्च शिखर बन जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि आत्म-सुधार समाज-सुधार के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है। उसी तरह इस आदर्श की ओर बढ़ता हुआ समाज व्यक्ति के लिए और उच्च शिखरों तक चढ़ने की भूमिका तैयार करता है।

अणुव्रत-आन्दोलन आत्म-सुधार और समाज-सुधार का समन्वित रूप है। अणुव्रत की नियमावली इसका उदाहरण है। उस नियमावली के अनुसार चलने वाला तो व्यक्ति ही होता है, परन्तु उससे सामाजिक वातावरण में परिवर्तन आता है। यह सम्भव नहीं है कि फूल खिले और वातावरण सुगन्धित न हो पाये। फूल का खिलना यद्यपि व्यक्ति का खिलना ही है, परन्तु सुगन्धि का फैलना उसे सामूहिक या सामाजिक बना देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रत आन्दोलन और नारी-समाज

अणुव्रत आन्दोलन आत्म-सुधार का आन्दोलन है। इसमें व्यक्ति छोटे-छोटे संकल्पों के माध्यम से अपनी वृत्तियों को कसता है। व्यक्ति यदि समाज से निरपेक्ष अकेला रहता, तो उसे अपनी वृत्तियों को कसने की विशेष आवश्यकता नहीं होती। जो थोड़ी-बहुत आवश्यकता होती, वह भी अपने हितार्थ ही होती। उसका प्रभाव किसी अन्य पर नहीं पड़ता। परन्तु वह सर्वथा समाज-निरपेक्ष हो नहीं सकता। हर क्षेत्र में उसे समाज से आदान-प्रदान करना होता है। इस प्रक्रिया में वह केवल 'स्व' को ही आगे रखकर नहीं चल सकता, उसे 'पर' के साथ संतुलन बिठाना पड़ता है। संतुलन बिठाने की इसी प्रक्रिया को यहां वृत्तियों का कसना कहा गया है। यह प्रवृत्ति स्वतः भी जागृत हो सकती है और दूसरों की प्रेरणा से भी। जब यह दृढ़ संकल्प का रूप धारण कर लेती है, तब व्रत बन जाती है।

भारतीय धर्म-शास्त्रों में व्रत के दो रूप प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। एक पूर्ण और दूसरा अपूर्ण। पूर्ण व्रतों को महाव्रत और अपूर्ण अर्थात् यथासाध्य व्रतों को अणुव्रत कहा गया है। अणुव्रत आन्दोलन का सम्बन्ध इन्हीं यथासाध्य व्रतों से है। इन्हीं व्रतों के आधार पर आचार्यश्री तुलसी ने मानव मात्र के चारित्रिक तथा नैतिक विकास के लिए प्रयास किया। आचार्यश्री राजस्थान में जन्मे तथा रहे हैं, अतः स्वभावतः ही उनका परिचय-क्षेत्र राजस्थान से प्रारम्भ हुआ। इस आन्दोलन का प्रथम प्रभाव भी राजस्थानियों पर ही हुआ। यह दूसरी बात है कि आचार्यश्री ने इस आन्दोलन के माध्यम से धीरे-धीरे अपना परिचय-क्षेत्र बढ़ाया और आज वे समग्र भारत के अपने बन चुके हैं। उनके माध्यम से आन्दोलन का प्रभाव क्षेत्र भी अखिल भारतीय तो बना ही है, परन्तु भारत से बाहर भी उसकी आवाज पहुंची है।

आन्दोलन का प्रारम्भ राजस्थान से हुआ है, अतः वहां की जनता को कितना आन्दोलित किया जा सका है, इसे देखकर ही आन्दोलन की सफलता या असफलता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस कसौटी पर कसने से आन्दोलन की जहां अनेक सफलताएं नजर आयेंगी, वहां कुछ असफलताएं भी दिखाई देंगी। आन्दोलन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने सहस्रों व्यक्तियों को शराब, तम्बाखू, द्यूत आदि दुर्व्यसनों से मुक्त किया है। व्यापार-क्षेत्र में मिलावट, गलत माप-तौल आदि के विरुद्ध वातावरण बनाया है। इसमें भी सहस्रों व्यक्तियों ने स्वयं को इन दोषों से मुक्त किया है। सामाजिक क्षेत्र में भी अनेक सुधार हुए हैं। जन्म, विवाह और मृत्यु के समय की अनेक परम्पराओं में परिवर्तन आया है। अस्पृश्य भावना की जकड़ काफी अंशों में शिथिल हुई है। भावना की गहराइयों तक छाई हुई पर्दा-प्रथा का भी उन्मूलन प्रारम्भ हो चुका है। कुछ कार्य वैयक्तिक स्तर पर और कुछ सामूहिक स्तर पर प्रगति कर रहे हैं। यह सब जहां आन्दोलन की सफलता कही जा सकती है, वहां यह असफलता भी स्पष्ट दिखाई देती है कि इतने वर्षों के प्रयास के बावजूद अभी तक सुधार का चक्र स्वयं चालित नहीं हो पाया है। सुधार के प्रेरकों में जितनी जागरूकता और उत्कंठा है, उतनी सुधार के पात्रों में दिखाई नहीं दे रही है। सामयिक वेग जितना कुछ करवा जाते हैं, उतना ही हो पाता है, उसके पश्चात् फिर सभी ओर मौन छा जाता है। वेग का सातत्य प्रायः टिक नहीं पाता। इस असफलता को, जो कि ऐसे कार्यों के मार्ग में बहुधा आया ही करती है, सफलता में बदलने का मार्ग खोज निकालने के प्रयास में स्वयं आचार्यश्री लगे हुए हैं। उनका प्रयास प्रायः सफलता का ही पर्यायवाची हुआ करता है, अतः कहा जा सकता है कि उन्होंने वेग उत्पन्न किया है, तो उसमें सातत्य की व्यवस्था भी वे कर सकेंगे। इतना होने पर सुधार के चक्र में स्वयं चालितता भी आ जायेगी।

आन्दोलन के लिए एक यह बात भी विशेष ध्यान देने की है कि इसमें अभी तक नारी-समाज की शक्ति यथेष्ट नहीं लग पायी है। यद्यपि नारी-वर्ग में चेतना जरूर आई है, वृत्तियों में अनेक परिवर्तन भी हुए हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश या तो किसी विवशता से फलित हुए हैं या फिर श्रद्धातिरेक से। स्वयं के जागृत विवेक से फलित होने वाले परिवर्तन नगण्य जैसे हैं। स्वर्णाभूषणों का व्यामोह अभी उनके मन से हट नहीं पाया है। सादी वेष-भूषा और सात्त्विक खान-पान से अभी उन्हें अपने गौरव का समाधान नहीं मिल पाता। मुंह पर से पर्दा हटा देने से किसी प्रकार की शालीनता या लज्जा की मर्यादा का भंग नहीं होता, यह विचार अभी तक उनमें यथेष्ट व्यापकता नहीं ले पाया। अज्ञान और रूढ़ियों के घेरे से बाहर निकलने की व्याकुलता होने पर भी तदनुकूल अपेक्षित साहस अभी कोसों दूर प्रतीत होता है। ये ही कुछ कारण कहे जा सकते हैं कि जिससे समाज के इस महत्त्वपूर्ण अर्धांश का सहयोग अणुव्रत आन्दोलन को खुलकर नहीं मिल पाता है।

नारी-समाज जिस दिन आन्दोलन की भावना को विवेक पूर्वक हृदयंगम कर लेगा और उसमें अपनी शक्ति लगानी प्रारम्भ कर देगा, उस दिन मानना चाहिए कि अणुव्रत आन्दोलन एक बहुत बड़ी मंजिल तय कर लेगा। नारी के विवेक की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसुप्तावस्था समाज के लिए जहां एक भयंकर अभिशाप होती है, वहां उसके जागरण की अवस्था एक महनीय वरदान। यदि यह वरदान अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से समाज को प्राप्त होता है, तो इससे जहां रूढ़ि-मुक्त और सुचरित्र समाज के निर्माण का कार्य बहुत आगे बढ़ सकेगा, वहां स्वयं आन्दोलन के कार्य को भी नये क्षितिज और नये आयाम प्राप्त होंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज के निर्माण में महिलाओं की भूमिका

समाज की गाड़ी के दो चक्के हैं—पुरुष और नारी। एक चक्के से गाड़ी नहीं चलती। दो चक्के आवश्यक और अनिवार्य हैं। दोनों समान और सबल होने चाहिए। असमान और निर्बल चक्के गति में साधक न होकर बाधक ही बनते हैं।

आज के परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज में नारी की स्थिति के विषय में सोचा जाता है तो लगता है कि वह चक्का बराबर नहीं है। ज्ञान, कार्य एवं अधिकार आदि सभी क्षेत्रों में उसे आगे बढ़ने की आवश्यकता है। परम्पराओं और वैधानिक स्थितियों में परिवर्तन अवश्य आया है। उसका कुछ-कुछ लाभ भी सामने आने लगा है, परन्तु अभी तक बहुत बड़ा क्षेत्र अनवगाहित पड़ा है।

महिलाओं के प्रति सामाजिक चिन्तन में निश्चित ही अन्तर आया है, परन्तु कार्य परिणति के क्षेत्र में उसकी गति इतनी मन्द रही है कि वह अगति का सन्देह उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए पर्दा-प्रथा को लिया जा सकता है। कुछ वर्ष पूर्व आचार्यश्री ने इस प्रथा के उन्मूलन पर काफी बल दिया था। उस समय लगता था कि यह प्रथा अब कुछ ही वर्षों में नामशेष हो जायेगी। परन्तु ऐसा नहीं हो पाया। जोश के प्रथम प्रवाह के निकल जाने के पश्चात् वही पुरानी उदासी छा गई। इसीलिए अनेक नगरों की धर्म-परिषद् की ओर जब देखता हूं तब अधिकांश महिलाएं अवगुंठनवती ही दृष्टिगत होती हैं। सोचता हूं कि जो परिवर्तन आया, वह सामयिक जोश का ही प्रतिफल था। चिन्तनपूर्वक विचारों में जो परिवर्तन अपेक्षित था, वह अभी तक फलित नहीं हुआ है। सामयिक जोश तो बरसाती नाले से अधिक कोई महत्त्व नहीं रखता। सीमित समय के पश्चात् अवरुद्ध हो जाना ही उसकी नियति होती है। सुचिंतित जोश वास्तविक होता है। उसमें सदातोया नदी के समान निरन्तरता होती है।

मृतक के पीछे लम्बे समय तक शोक की बैठक करते रहना, गंगा में फूल डलवाना, विवाहादि अवसरों पर अनेक रूढ़ियों को प्रश्रय देना आदि सामाजिक दोष मर-मरकर वापस जीवित होते रहते हैं, इनसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवर्तन जोश या दबाव के क्षणों में स्वीकृत होते हैं। उनका प्रभाव हटते ही मानसिक दुराग्रह पूर्ववत् फन फैलाकर खड़े हो जाते हैं।

परम्पराओं, प्रथाओं तथा रूढ़ियों का अस्तित्व यों तो पुरुषों तथा महिलाओं—दोनों के ही आश्रय की अपेक्षा रखता है फिर भी महिलाओं का आश्रय उनके लिए अधिक शक्तिदायक होता है। जिस प्रथा या परम्परा को केवल पुरुषों का आश्रय प्राप्त होता है वह प्रायः स्वल्पजीवी होती है परन्तु जिसे महिलाओं का आश्रय मिल जाता है, उसे सौ-सौ प्रयासों के बाद भी हटा पाना कठिन होता है।

जिस समाज की महिलाएं सुशिक्षित तथा विचार-प्रवण होती हैं उस समाज को उन्नत होते देर नहीं लगती। वे यदि रूढ़ियों में जकड़ी हैं तो पुरुषों की शिक्षा-दीक्षा की ऊंचाइयां बौनी बनकर रह जाती हैं।

क्षेत्र आध्यात्मिक हो चाहे सामाजिक, प्रत्येक में महिलाओं की उन्नति प्राथमिकता से अपेक्षित होती है, क्योंकि बालकों के तादृश संस्कार-निर्माण में उनकी भूमिका अधिक सार्थक होती है। पुरुषों को भी सुसंस्कारों में स्थिर रखने तथा बुराइयों के मार्ग पर न जाने देने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता आया है। पुरुष जितना शीघ्र अपनी दुर्बलता का शिकार हो जाता है, महिला नहीं होती।

एक बार एक विदेशी ने महात्मा गांधी से पूछा—"भारतीय महिलाएं ही अच्छे पति की आकांक्षा से उपवास क्यों करती हैं, अच्छी पत्नी के लिए पुरुष क्यों नहीं करते?" महात्माजी ने कहा—"पत्नियां कभी बुरी नहीं होतीं, पति कभी-कभी बुरे भी होते हैं, अतः महिलाएं ही उपवास करती हैं।"

महात्मा गांधी का उक्त विश्वास महिलाओं की क्षमता के अनुरूप ही है। उस क्षमता को जागरूक रखकर ही समाज या राष्ट्र की उन्नति को सुरक्षित किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युग की आवश्यकता : स्याद्वाद

(मुनिश्री बुद्धमल ने दिल्ली में अनेक चातुर्मास किए हैं। अनेक विशिष्ट विचारक और राजनेता मुनिश्री के सम्पर्क में आए हैं। उनसे देश की वर्तमान स्थिति, अणुव्रत की भूमिका आदि अनेक विषयों पर मुक्त विचार-मंथन हुआ है। इसी सन्दर्भ में भारत के उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन के साथ हुआ वार्तालाप उल्लेखनीय है। लगभग पचास मिनट तक चले उस वार्तालाप के कुछेक बिन्दु ही संकलित हो पाए हैं। प्रस्तुत आलेख उस संकलन की निष्पत्ति है। —(सम्पादक)

मुनिश्री बुद्धमल—'आज जो भौतिक विचारधारा हर मनुष्य के जीवन का अंग बन गई है, उसमें अगर आत्मवादी विचारधारा का पुट रहे तो जीवन की भयंकरता दूर हो जाए तथा जीवन का रूप सुन्दर हो जाए।'

उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन्—'मैं भी ऐसा मानता हूं। आज पाश्चात्य जगत भी इस तथ्य को आवश्यक समझ रहा है। विशेषकर हमारे जीवन के सारे कार्य आत्म-जागृति के साधन रूप होने चाहिए। वास्तव में हमारा लक्ष्य आत्मज्ञान का साक्षात्कार ही तो है। विशेषकर आप साधुओं को आत्मवादी विचारधारा का प्रचार करने के लिए दूर तक जाना चाहिए। मानव-समाज सारे जगत् में फैला हुआ है—भगवान् महावीर तथा पार्श्वनाथ के समय में तो इतने आवागमन के साधन नहीं थे, परन्तु आज तो देहली से न्यूयार्क तक जाना भी उतना ही सरल है, जितना कि काशी से कलकत्ता।'

मुनिश्री—हम पदयात्री हैं। हमारे लिए यह संभव नहीं है। जैन साधुओं की अहिंसा से अनुप्राणित जीवन-चर्या युग के लिए एक आदर्श है।

डॉक्टर राधाकृष्णन्—'जैन धर्म में आचरण की मुख्यता है, यह सच है। आज विशेष रूप में शुद्ध आचरण की ही आवश्यकता है। हर धर्म के आदर्श तो बहुत ऊंचे हैं, लेकिन उनका प्रायोगिक रूप वैसा नहीं। यही तो कारण है कि एटम बम, हाइड्रोजन बम तथा अन्य विनाशकारी तत्त्वों का जन्म हुआ है और होता जा रहा है। आदर्शों को जीवन में उतारने वाले कभी ऐसा काम नहीं कर सकते। सच तो यह है कि जहां एक हाथ में धार्मिक पुस्तक रहती है, वहां दूसरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हाथ में तलवार। जरूरत आज इसी की है कि जीवन का व्यावहारिक रूप अच्छा हो।'

मुनिश्री—'आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत आन्दोलन एक ऐसा ही उपक्रम है—केवल आदर्शों का ही रूप नहीं, वरन् जीवन की क्रिया में मलिनता न हो, इस ओर भी प्रयास किया जा रहा है। आचार्यश्री इसी उद्देश्य से निरन्तर पूरे देश की यात्रा कर रहे हैं।

'जैन दर्शन में आचार के साथ विचार की भी प्रधानता रही है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से एक ही सत्य को अनेक रूपों में आंका जा सकता है। ये सभी रूप सत्य के ही अंग होते हैं। जैन दर्शन अन्य विचारों के साथ भी समन्वय का दृष्टिकोण रखता है। यह इसकी विचार सम्बन्धी अहिंसा का द्योतक है।'

डॉ० राधाकृष्णन्—'आज जैन धर्म की स्याद्वादी विचारधारा की इस युग को महती आवश्यकता है तथा दुनिया इसको महसूस भी कर रही है। आज रूस और अमेरिका एक-दूसरे के विरोधी-से प्रतीत होते हैं, परन्तु उनको निकट लाने के प्रयत्न भी सफल हो रहे हैं।

'यह सच है कि जहां एक दृष्टिकोण से एक-दूसरे में अन्तर है, वहां अन्य दृष्टिकोण से एक-दूसरे के निकट भी है। जैन धर्म की अन्य विचारों के साथ जो सहिष्णुता है, वास्तव में वह बहुत ही अनुकरणीय है। इस्लाम धर्म वाले चाहते हैं कि सब अन्य धर्म समाप्त हो जाएं और केवल इस्लामी राज्य सारे जगत में हो। ईसाई धर्म वाले भी चाहते हैं कि एक-एक मनुष्य ईसाई बन जाए तथा अन्य धर्म न रहे।'

मुनिश्री—'शंकराचार्य आदि अनेक प्राचीन विद्वानों तथा वर्तमान के कुछ विद्वानों ने स्याद्वाद को बहुत गलत समझा है, यहां तक कि स्याद्वाद को छल तथा संशयवाद भी कहा है। स्याद्वाद के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?'

श्री राधाकृष्णन्—'मैंने भी 'इण्डियन फिलासफी' में एतत् सम्बन्धी विचार लिखे हैं, परन्तु मैंने करीब ३० वर्ष पहले इस सम्बन्ध में पढ़ा था। विचारों में समन्वय का दृष्टिकोण बहुत जरूरी है। मैं तो स्वयं भी स्याद्वादी हूं—विचारों में समन्वय रखना अनिवार्य समझता हूं। मैं सब धर्मों के जलसों में शरीक होता हूं। मेरा अधिक समय पढ़ने-लिखने में बीता है, यद्यपि अब तो उतना समय मिलता ही नहीं है, पर अब मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि दुनिया के लिए पढ़ने-लिखने की अपेक्षा उसे सही रूप में जीवन में आचरण करना अधिक आवश्यक है।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदाचार से जुड़े प्रश्न

प्रश्न—साधु ने जब संसार को छोड़ ही दिया है तब उसे यहां क्यों रहना चाहिए? उसे तो सबसे अलग कहीं एकांत में चले जाना चाहिए।[1]

उत्तर—यहां से आपका तात्पर्य इस कमरे या ग्राम से है अथवा इस पृथ्वी से। पृथ्वी से तो एक दिन सभी को चले जाना है। अतः साधु भी चले जाएंगे। परन्तु तब यह जानना आसान नहीं होगा कि जो यहां से गए, वे वस्तुतः ही चले गए, अथवा शरीर-परिवर्तन कर यहीं कहीं रह रहे हैं। यदि वे सचमुच ही कहीं अन्यत्र चले जाएंगे, तब भी जहां जाएंगे वहां संसार ही तो होगा। तब फिर यही प्रश्न सामने आएगा कि संसार को छोड़ने वाला आखिर कहां जाए? मुझे लगता है कि संसार को छोड़ने का अर्थ ही गलत लिया जा रहा है। उसका अर्थ कोई कमरा, ग्राम या पृथ्वी आदि क्षेत्र विशेष को छोड़ देने से सम्बद्ध नहीं है वहां तो संसार के प्रति जो मोह का बन्धन होता है, उसे ही छोड़ने का अर्थ है। यदि मोह का बन्धन छोड़ दिया जाता है, तो फिर यहां रहते हुए भी संसार छूट जाता है। अन्यथा कहीं भी नहीं छूटता।

दूसरी बात है एकान्त में चले जाने की। जैन परम्परा में दोनों ही प्रकारों को मान्यता दी गई है। आगम निर्दिष्ट योग्यता पा लेने के बाद इच्छा हो तो विजन में रहकर एकान्त और मौन साधना की जा सकती है अन्यथा समूह में रहकर भी। जब तक वह योग्यता प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक के लिए हर साधु को संघ में रहते हुए भी गुरु के पास अभ्यास करना आवश्यक होता है। एकान्त शब्द के अर्थ में भी कुछ अपेक्षाएं दिखाई देती हैं। जहां एक मात्र साधक के अतिरिक्त कोई दूसरा न हो उसे एकान्त कहें, तो यह प्रश्न सहज ही उठता है कि दूसरा कौन न हो? मनुष्य ही या पशु-पक्षी भी। पशु-पक्षी भी तो ध्यान में बाधा डाल सकते हैं?

---

१. सन् १९६१ में मुनिश्री के जोधपुर प्रवास के समय प्रेस कांफ्रेंस तथा रोटरी क्लब आदि विभिन्न संस्थाओं में हुए कार्यक्रमों में प्रस्तुत की गई जिज्ञासाओं के समाधान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी क्रीड़ाओं के द्वारा उसके मन में विकार उत्पन्न करने में वे सहायक बन सकते हैं। तब फिर दूसरे से केवल मनुष्य के न होने की ही जो सीमा एकान्त के लिए बांधी जाती है वह सापेक्ष ही तो ठहरती है। उसके अतिरिक्त जंगल में यदि गुरु के साथ शिष्य रहता हो तो उसे भी एकान्त ही कहा जाता है। यों एकान्त स्वयं अनेकान्त बन जाता है। सर्वत्र उसकी सीमा किसी विशेष दृष्टिकोण से ही निर्धारित की जाती रही है। अतः जंगल में चले जाने मात्र को ही एकान्त मान लेना परिपूर्ण नहीं होगा।

प्रश्न—पैदल चलने से आप लोगों का समय व्यय तो अधिक होता है और कार्य स्वल्प। यदि इस रूढ़ि को छोड़ दिया जाए और वर्तमान की वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग किया जाए तो क्या हर्ज है? उससे अणुव्रत के प्रसार में त्वरता आ सकती है।

उत्तर—हम अणुव्रत भावना को आम जनता में प्रसारित करना चाहते हैं। अतः यह आवश्यक है कि जन-साधारण से अधिकाधिक परिचय किया जाए। यह पद-यात्रा से ही सम्भव हो सकता है। कार्य-विस्तार की दृष्टि से केवल बड़े-बड़े शहर ही नहीं, किन्तु छोटे-छोटे ग्रामों को कार्य क्षेत्र बनाना आवश्यक होता है। भारत की अधिकांश जनता अब भी ग्रामों में ही बसती है। उन तक पहुंचने के लिए पैदल चलने में समय का व्यय तो अवश्य होता है पर अपव्यय नहीं।

वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। फिर भी पद-यात्रा के विषय में साधुओं के लिए एक अनिवार्य विधान है। यह कोई रूढ़ि नहीं, किन्तु एक सुविचारित और सुविहित तथ्य है। जैन परम्परा ने इसे एक उच्च वैचारिक भूमिका के रूप में स्वीकार किया है। हर संस्था में इसी प्रकार के कुछ उच्च आदर्श होते हैं और वे वैज्ञानिक उपलब्धियों के नाम पर छोड़े नहीं जाते। कांग्रेस ने अपने सदस्यों के लिए यह आवश्यक माना कि वे शुद्ध खादी का ही उपयोग करें। आज भी वही माना जा रहा है जबकि वैज्ञानिक उपलब्धियां बहुत आगे बढ़ चुकी हैं।

मोटर या हवाई जहाज का उपयोग करने से फिर हमारा हवाई सम्पर्क तो सम्भव हो जाता है, पर जन-सम्पर्क छूट जाता है। जन-मानस का विचार-स्तर जब रसातल की ओर जा रहा हो, उस समय हवा में उड़ने से उसकी सुरक्षा नहीं की जा सकती। धरातल पर टिककर ही रोका जा सकता है। प्रसार में त्वरता आए यह आवश्यक तो है पर उससे भी अधिक आवश्यक यह ध्यान रखना है कि कहीं उस त्वरता में वास्तविकता पीछे न छूट जाए।

प्रश्न—मैं अणुव्रत आन्दोलन का आलोचक रहा हूं। मुझे लगता है कि अणुव्रत आन्दोलन ने देश की उन्नति के लिए कोई कार्य नहीं किया। क्या आप कोई ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष उदाहरण दे सकते हैं, जिससे यह सिद्ध हो सके कि अणुव्रत आन्दोलन ने यह कार्य किया है ?

उत्तर—अणुव्रत आन्दोलन के आप आलोचक हैं तो आपने स्वयं ही यह सिद्ध कर दिया है कि यह एक जीवित आन्दोलन है। इस आन्दोलन ने आपके मन को झकझोरा है तभी तो आपने उसके विषय में कुछ सोचा है, धारणाएं बनाई हैं। यह दूसरी बात है कि आपको उसमें कुछ त्रुटियां दिखाई दी है। अतः आप उसके प्रशंसक न होकर आलोचक हो गए हैं। आपकी धारणा है कि अणुव्रत आन्दोलन ने देश की उन्नति के लिए कोई कार्य नहीं किया है। परन्तु मैं पूछना चाहूंगा कि आप किस प्रकार के कार्य को देश की उन्नति करने वाला मानेंगे—भौतिक कार्य को या चारित्रिक कार्य को ? यदि भौतिक कार्य को ही उन्नति का हेतु मानते हैं तो मुझको निःसंदेह यह मान लेना चाहिए कि अणुव्रत आन्दोलन ने देश की उन्नति का कोई कार्य नहीं किया है। परन्तु मैं मानता हूं कि भौतिक उन्नति से भी कहीं अधिक मूल्यवान चारित्रिक उन्नति है और उस क्षेत्र में आन्दोलन ने कुछ कार्य किया है। जब देश की भौतिक उन्नति के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी संगठनों द्वारा नाना प्रकार की योजनाएं चलाई जा रही हैं तब उन्हीं में से एक बनकर यह आन्दोलन कुछ भी विशेष नहीं कर पाता। परन्तु इसने देश की आवश्यकता के एक नये कोण को छुआ है। वह यह मानकर चला है कि चारित्रिक उन्नति के अभाव में कोई भौतिक योजना समुचित रूप से सफल नहीं हो सकती। वर्तमान योजनाओं में पकड़े गए लाखों रुपयों का गबन इसी बात का साक्षी है। यदि चारित्रिक सामर्थ्य परिपूर्ण होता तो अधिकारी वर्ग सारे राष्ट्र के जीवन को धोखा देने की बात सोच भी नहीं सकता था।

आप अणुव्रत आन्दोलन के कार्य को जानने के लिए कुछ प्रत्यक्ष उदाहरण चाहते हैं क्योंकि आज की दृष्टि प्रत्यक्ष को ही महत्त्व देती है। परन्तु कठिनता यह है कि भौतिक योजनाओं के फल की तरह आध्यात्मिक या चारित्रिक योजनाओं का फल प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। अन्न, वस्त्र व फलों के ढेर की तरह हृदय-परिवर्तन का ढेर तो नहीं लगाया जा सकता। भौतिक और अभौतिक वस्तुओं की तुलना की बात तो एक बार आप छोड़िए। अभी तक तो भौतिक वस्तुओं में भी परस्पर इतना अन्तर है कि उन दोनों को एक ही तराजू पर नहीं तोला जा सकता। पत्थर तोलने के तराजू पर हीरा कैसे तोला जा सकता है ? दृश्य वस्तुओं में भी पारस्परिक इतना अन्तर है, तब दृश्य और अदृश्य के अन्तर की कल्पना ही क्या की जा सकती है।

फिर भी मैं कुछ ऐसे कार्यों के विषय में बतलाना चाहूंगा जो कि आन्दोलन ने विशेष रूप से किए हैं। सम्भव है आप उनसे यह अनुमान लगा सकेंगे कि आन्दोलन ने कितना क्या कुछ किया है। आन्दोलन का मूल ध्येय हृदय-परिवर्तन के द्वारा जनता के चारित्रिक उत्थान का रहा है। अतः उसने ब्लेक, दहेज, मिलावट, झूठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तोल-माप और रिश्वत आदि के विरुद्ध भी वातावरण तैयार करने का प्रयास किया है। हजारों व्यक्तियों को उपर्युक्त दुर्गुणों के विरुद्ध प्रतिज्ञा-बद्ध कर देना जहां आत्म-शुद्धि के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है वहां देश के लिए कोई कम महत्त्व का कार्य नहीं है।

प्रश्न—हम सबके लिए अहिंसा पालन की उपयुक्त अन्तिम सीमा क्या होनी चाहिए?

उत्तर—किसी का प्राण वियोजन न करना या किसी को कष्ट भी नहीं पहुंचाना, यह अहिंसा का स्थूल रूप है। सूक्ष्म रूप में तो दुष्प्रवृत्ति मात्र या विकार मात्र का भी उसमें वर्जन होता है। यही उसकी अन्तिम सीमा कही जा सकती है। किन्तु प्रश्न तब थोड़ा टेढ़ा हो जाता है। जबकि आप अपने लिए अहिंसा की उपयुक्त अन्तिम सीमा पूछते हैं। मैं आपके लिए या अन्य किसी के लिए इस विषय की कोई अन्तिम सीमा-रेखा खींच सकूं—यह सम्भव नहीं है। न मेरा यह कर्तव्य ही हो सकता है कि मैं आपकी एतद् विषयक साधना की योग्यता को किसी प्रकार के मध्यम स्तर तक ही बढ़ने योग्य मानूं। इसलिए अन्तिम सीमा तो सबके लिए पूर्ण अहिंसा ही हो सकती है फिर भी जब तक उतने सामर्थ्य का कोई अपने में अभाव महसूस करे, तब तक के लिए वह अपने सामर्थ्य को तोलकर तत्प्रमाण सीमा का निर्धारण करके भी चल सकता है। परन्तु उसे अन्तिम सीमा मान लेने की भूल तो कभी नहीं करनी चाहिए। मैं किसी भी सीमा का निर्धारण करूं इससे तो यह कहीं अच्छा होगा कि वे ही स्वयं अपनी-अपनी सीमा का निर्धारण कर लें। मैं मानता हूं कि हर व्यक्ति का सामर्थ्य एक जैसा नहीं होता अतः उन सबके लिए एक सीमा भी नहीं हो सकती। फिर भी यदि आप उन सब व्यक्तियों के, जिन-जिन के लिए आपने यह प्रश्न उपस्थित किया है, अहिंसा-पालन के क्षेत्र में सामर्थ्य-विकास की अन्तिम सीमा बता सकेंगे तो उसी के आधार पर आपके लिए अहिंसा-पालन की भी उपयुक्त अन्तिम सीमा बतला सकूंगा।

प्रश्न—अहिंसा की दृष्टि से आततायी के प्रति क्या व्यवहार किया जाना चाहिए?

उत्तर—आतंक फैलाने वाले तथा दारुण हिंसा करने वाले व्यक्तियों को आततायी कहते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज के लिए बड़े खतरनाक गिने जाते हैं। न्यायालय उन्हें मृत्यु-दण्ड तक देता है। उससे आगे भी कुछ कर सकने की गुंजाइश होती तो शायद वह भी विधान-सम्मत ही माना जाता। **'नाततायी वधे दोषो'** कहकर स्मृतिकार मनु ने भी आततायी के वध को निर्दोष ही घोषित किया है। किन्तु अहिंसा का दृष्टिकोण इससे भिन्न रहा है। सर्वत्र आत्मवत्ता की भावना में से अहिंसा का उद्भव हुआ है। अतः वहां किसी भी स्थिति में वध को उपयुक्त नहीं माना जा सकता। यहां तक कि सामाजिक न्याय जहां उसे उपयुक्त मानता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वहां भी नहीं। अहिंसा का सिद्धान्त सामाजिक न्याय से कहीं ऊंचा है, वह उसका परिष्कर्ता है। सामाजिक न्याय बहुधा बहुमत की धारणाओं के आधार पर आश्रित होता है, जबकि 'सत्य' उससे पृथक भी हो सकता है। ईसा और सुकरात को खतरनाक व्यक्ति घोषित कर मृत्युदण्ड की व्यवस्था करने वाला तत्कालीन न्याय ही तो था। पर क्या वह ठीक था? गान्धी को गोली मारने वाले गोड्से ने भी अपनी तथा अपने पक्ष-पोषकों की दृष्टि में हिन्दू जाति के लिए खतरनाक व्यक्ति को मारकर औचित्य का ही तो पालन किया था। आज ईसा, सुकरात और गान्धी महापुरुष माने जाते हैं। न सामाजिक न्यायालय की स्वीकृति उनकी महत्ता को रोक पाई और न पक्ष विशेष की स्वीकृति। इसी प्रकार आज की परिभाषा में जो आततायी हैं, हो सकता है कि कालान्तर में वे जनमान्य नेता या मानवता के पथदर्शक भी मान लिये जाएं।

जो वस्तुतः आततायी होते हैं और जिन्हें न्यायालय भी आततायी घोषित करता है, उनके वध में भी यह बात सोचने की रह जाती है कि कोई भी व्यक्ति यदि आततायी बनता है तो उसमें क्या समस्त दोष उसी का ही होता है, अथवा समाज के वातावरण तथा समाज की अपूर्णताओं का भी उसमें सहयोग होता है? यदि सामाजिक दोषों ने उसे आततायी बनने को बाध्य किया है तो न्यायालय आततायी का वध करने की आज्ञा देते समय क्या पूर्णतः उसके साथ न्याय ही करता है?

मनोविज्ञान बड़े से बड़े दोषी को भी एक रोगी मानने को कहता है। रोगी को मिटा देना ही रोग को मिटा देना नहीं हो सकता। आज तक के उपाय प्रायः रोगी को मिटा देने के ही रहे हैं—पर अब अहिंसा ने मनुष्य को एक नयी दृष्टि प्रदान की है। वह आततायी को एक रोगी मानती है और उसके उपचार में धैर्य और सहनशीलता के अतिरिक्त करुणा और सहानुभूति की भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। कुछ सामाजिक बाध्यताएं उसे आततायी बना सकती हैं तो कुछ सहानुभूति उसे एक श्रेष्ठ नागरिक भी बना सकती है। मनुष्य में जो सुधार सम्पूर्ण जीवन में नहीं हो पाता वह उसके अन्तित क्षणों में सम्पन्न हो सकता है।

प्रश्न—नैतिकता की परिभाषा हर काल में बदलती रही है। तब फिर वास्तविक नैतिकता किसे कहा जाए?

उत्तर—सामाजिक जीवन को अनिष्ट मार्ग पर बढ़ने से रोकने के लिए जो सामूहिक प्रतिबंध लगाए जाते हैं, मेरी दृष्टि में वही नैतिकता के नियम होते हैं। ज्ञान-विज्ञान की अभिवृद्धि के साथ-साथ बदलती हुई परिस्थितियों के कारण सामाजिक जीवन पद्धति में परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। फिर भी हर परिवर्तन के साथ जीवन-क्रम को उच्च से उच्च स्तर तथा सत्य से अधिकाधिक अनुप्राणित बनाने का प्रयास ही उसका लक्ष्य होता है। इस दृष्टिकोण से यदि किसी को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविक नैतिकता के पथ पर प्रतिष्ठित करना हो, तो वह सत्य ही हो सकता है। जिस प्रकार एक कमरे में प्रविष्ट होने के लिए अनेक द्वार होते हैं। उनमें से विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न द्वारों की प्रमुखता बदलती रहती है। द्वारों की प्रमुखता का बदलते रहना केवल सुविधा के लिए होता है। मूल बात तो कमरे में प्रविष्ट होना है। उसी प्रकार नैतिकता की बदलती हुई परिभाषाएं सत्य के कमरे में प्रविष्ट होने के लिए विभिन्न परिस्थितियों में खोले गए विभिन्न द्वार हैं। उनके बदलते रहने पर भी सत्य नहीं बदलता।

प्रश्न—धूम्रपान और मद्यपान को व्यसन क्यों कहा जाता है? ये तो आजकल की सभ्यता के आवश्यक अंग हैं।

उत्तर—प्रश्न के प्रथमांश एक प्रश्न है और द्वतीयांश एक स्थापना। प्रथमांश का उत्तर है कि ये दोनों ही शरीर धारण के लिए आवश्यक और अनिवार्य तो हैं ही नहीं, परन्तु बहुधा अनेक रोगों के कारण बनने से उसमें बाधक ही होते हैं। एक बार लत पड़ जाने पर मनुष्य को उनका आसेवन दुहराते रहने के लिए विवश हो जाना पड़ता है। यही कारण है कि उन्हें दुर्व्यसन कहा जाता है। पशु अपने खाद्य पेय के विषय में प्रायः आन्तरिक मांग को आधार मानकर चलता है। पर मनुष्य उसका अतिक्रमण भी करता रहता है। यह अतिक्रमण उसे अस्वाभाविकता की ओर ले जाता है। धूम्रपान और मद्यपान सहज नियमों का अतिक्रमण है।

प्रश्न के द्वितीयांश में जो यह स्थापना की गई है कि ये सभ्यता के आवश्यक अंग हैं, मैं इससे सहमत नहीं हूं। साधारणतः सभा में बैठने वाले उपयुक्त व्यक्ति को अथवा शिष्ट बर्ताव करने वाले व्यक्ति को सभ्य कहा जाता है। धूम्रपान करने वाला व्यक्ति अपने आसपास के वातावरण को जहरीले धुओं से भर देता है किन्तु उससे दूसरों को जो असुविधा होती है वह प्रायः उस पर ध्यान नहीं देता। इसी प्रकार मद्यपान करने वाला व्यक्ति उन्मत्त होकर पागल की तरह व्यवहार करने लगता है। सभ्यता के लिए जिस विवेक और बुद्धि की आवश्यकता होती है, मद्यपान के द्वारा उनको आच्छन्न कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में ये दोनों शिष्टता के नहीं, किन्तु अशिष्टता के ही चिह्न हो सकते हैं। इन दोनों को आधुनिक सभ्यता का अंग मानना भ्रम मात्र है। यदि आज तक ऐसा माना गया है या माना जा रहा है, तो इस धारणा को बदल देना चाहिए।

प्रश्न—किसी भी वक्तव्य का स्थायी प्रभाव क्यों नहीं होता? चरित्र सम्बन्धी उपदेश बार-बार क्यों दुहराए जाते हैं?

उत्तर—साधारणतया किसी भी वक्तव्य का असर न होने में दो ही कारण हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि वक्ता अपनी बात को व्यवस्थित और रुचिपूर्ण ढंग से रखने की क्षमता न रखता हो तथा द्वितीय यह कि श्रोता की उपयुक्त पात्रता न हो। परन्तु यहां केवल प्रभाव के लिए नहीं पूछा गया है। उसके पीछे एक विशेषण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्थायी' जोड़ा गया है। स्थायी प्रभाव क्यों नहीं होता? इस प्रश्न में यह स्वतः सिद्ध है कि एक बार प्रभाव अवश्य होता है, पर वह टिकता नहीं। यदि प्रभाव होता ही नहीं तब तो वक्ता के लिए सोचने की बात थी। परन्तु प्रभाव होता तो है, टिकता नहीं, तब आप लोगों के लिए सोचने की बात है। वस्तु का ही अभाव हो तो पात्र का उसमें कोई दोष नहीं, परन्तु वस्तु डालने पर यदि वह पात्र में टिक नहीं पाती हो, तो अवश्य ही उसमें कोई-न-कोई छेद है।

प्रश्न के दूसरे अंश का उत्तर यह है कि जब दुराचरण के संसर्ग का भय निरन्तर रहता है, तब उससे बचने के लिए बार-बार सावधान करना भी आवश्यक है। भूल बार-बार हो तो सुधार भी बार-बार अपेक्षणीय है। अन्यथा शेष में भूल ही रह जाती है। सम्भव है, आप यह महसूस करते हों कि ऐसा करके छात्र वर्ग की स्मृति-शक्ति पर अविश्वास प्रकट किया जा रहा है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। कहा जाता है कि असत्य बात को सौ बार दुहराने से वह सत्य लगने लगती है। तब फिर सन्तुलन रखने के लिए सत्य को दुहराना भी आवश्यक हो जाता है। अन्यथा असत्य को ही सत्य समझा जाने लगेगा। सत्य को कभी सम्मुख आने का अवसर ही नहीं रहेगा।

प्रश्न : सदाचार और नैतिकता के लिए इतना प्रयास होते हुए भी भ्रष्टाचार प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसका क्या कारण है? स्वतन्त्रता के बाद यह बहुत ही तीव्रता से बढ़ा है।

उत्तर : इसमें मुख्य कारण तो मनुष्य की अपनी कमजोरी ही है। पर कुछ असर वातावरण का भी कहा जा सकता है। पर इस प्रश्न को एक-दूसरे दृष्टिकोण से यों भी देखा जा सकता है—होमियोपैथी चिकित्सा पद्धति में यह माना जाता है कि जब औषधि दी जाती है, तब अन्दर जमा हुआ रोग उभरने लगता है। रोग का यों अप्रत्याशित उभार देखकर घबराने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि उससे दबी हुई रुग्णता बाहर निकल जाती है तब व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उभरने वाली भ्रष्टाचारिता भी एक प्रकार से रोग का उभार ही है। परतन्त्रता की स्थिति में दबे हुए मानसिक दोष उभर कर एक बार निकल जायेंगे तब फिर आशा करनी चाहिए कि फिर से सदाचार के वातावरण का निर्माण होगा।

प्रश्न : आपकी दृष्टि में सदाचार साधन है या साध्य?

उत्तर : सदाचार को मैं साधन मानता हूं, साध्य नहीं। साध्य तो जीवन की पूर्ण पवित्रता अथवा निर्दोषता है। सदाचार के द्वारा उस उच्च आदर्श तक पहुंचा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-जागरण के उपदेष्टा : भगवान् महावीर

धुरीण-युग

ई० पू० ८०० से ई० पू० २०० वर्ष तक का काल इतिहास का धुरीण युग कहा जाता है। इस युग में संसार के विभिन्न देशों में अनेक ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपनी जीवन-पद्धति और विचार-पद्धति से जन-जीवन को अतिशय प्रभावित किया। चीन में लाओत्से और कन्फ्युसियस जैसे विचारक, ईरान में जरथुस्त्र जैसे मार्गदर्शक, यूनान में पैथागोरस, सुकरात और प्लेटो जैसे दार्शनिक भारत में उपनिषदों के अनेक ऋषि तथा महावीर और बुद्ध जैसे आध्यात्मिक महापुरुष उसी युग की देन हैं। इससे संसार की विचारधारा में युगान्तरकारी मोड़ आया। निपट भौतिक सुखों की याचना में पगी हुई मनुष्य की चिन्तन-प्रणाली जड़ प्रकृति के अध्ययन से हटकर चैतन्य के अध्ययन की ओर उन्मुख हुई और मनुष्य के लिए बहिरंग से अंतरंग की ओर प्रस्थान करने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

सर्व त्याग

भगवान् महावीर का जन्म इसी युग के पूर्वार्ध में ई० पू० ५९९ में हुआ। भारत का वातावरण उस समय पशु-बलि और याज्ञिक क्रिया काण्डों से परिव्याप्त था। समाज में पुरोहितों का बहुमान था। यज्ञों में सहस्रों पशुओं की बलि दी जाती थी। **'स्वर्गकामः यजेत, पुत्रकामः यजेत, धनकामः यजेत'**—ये भौतिक कामनाएं ही जीवन का ध्येय बनी हुई थीं। वर्णाश्रम व्यवस्था ने समाज को अनेक वर्गों में विभक्त कर डाला था और उच्च-नीच की भावना यहां तक फैल गयी थी कि मनुष्य ही मनुष्य के लिए अस्पृश्य बन गया था। भगवान् महावीर के समय तक ये स्थितियां अपनी चरमावस्था तक पहुंच चुकी थीं। उन्होंने उन सब परिस्थितियों को देखा, उनके मूल को समझा और फिर उसके निराकरण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए साधना में लीन हो गये। उनकी साधना किसी आवेग या जोश का परिणाम नहीं थी। वे जोशीले नहीं, गम्भीर थे। पूर्ण युवावस्था में राज्य, ऋद्धि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवार और समस्त सुख-सुविधाओं को ठोकर मारकर तपस्वी-जीवन स्वीकार करने का उनका संकल्प कोई तात्कालिक आवेग-मात्र नहीं था। आवेग में आकर सब कुछ छोड़ा जा सकता है, पर सदा के लिए नहीं। सदा के लिए तो वह किसी सिद्धान्त के आधार पर ही छोड़ा जा सकता है और फिर सिद्धान्त यों ही एक दिन में नहीं बन जाया करता। अंकुर की तरह चिन्तन की भूमिका पर उसका विकास हुआ करता है। विकास की प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए लम्बा समय अपेक्षित होता है। महावीर उस प्रक्रिया में से गुजर चुके थे। अपने सिद्धान्त की कसौटी पर सर्वप्रथम उन्होंने अपने आपको ही कसा। साढ़े बारह वर्ष की सुदीर्घ साधना पूर्ण हुई और आत्म-ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हुई।

'स्व' सर्व के लिए

साधना की उस चरम विकास की अवस्था में वे जिन कहलाए। 'जिन' अर्थात् विजेता। उन्होंने किसी देश को नहीं, आत्मा को जीता था। मैं किसी बाहरी युद्ध में नहीं, अन्तर्वृत्तियों के युद्ध में विजयी बने थे। परम विजय का मार्ग आत्मा से प्रारम्भ और आत्मा में ही पर्यवसित होता है। स्व-विजय ही सर्व-विजय का मूल मंत्र है। 'स्व' केन्द्र है, 'सर्व' परिधि। केन्द्र के अभाव में परिधि की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार 'स्व' को छोड़कर 'सर्व' की कल्पना नहीं की जा सकती। महावीर की साधना का लक्ष्य 'सर्व' नहीं 'स्व' था। 'स्व' से प्रारम्भ कर वे 'सर्व' तक पहुंचे थे। स्व-विजय के पश्चात् ही उन्होंने सर्व के लिए कहा। उससे पूर्व वे मौन तपस्वी रहे। उनके प्रवचन समग्र जगत के जीवों की रक्षा हेतु तभी बन सके, जबकि वे आत्म-प्रकाश में से निःसृत हुए। वस्तुतः उनका 'स्व' सर्व के लिए उन्मुक्त हो गया।

महावीर के उपदेशों का उन्मुक्त स्वर आत्म-जागरण का स्वर है। वे किसी शक्ति-विशेष से याचना नहीं करते। उनका कथन तो अपनी ही अनन्त-शक्तियों में विश्वास करने का है। जो कुछ पाना है, वह बाहर से नहीं अन्दर से ही पाना है, वह भी प्राप्त को ही पाना है, अप्राप्त को नहीं। अप्राप्त कभी पाया ही नहीं जा सकता। जो हमारे में नहीं है, वह कभी आ नहीं सकता। इसी प्रकार जो हमारे में है, वह कहीं जा भी नहीं सकता। बात केवल इतनी ही है कि जो कुछ हमारे पास है, वह अभी तक आवृत है, हमारे पास होते हुए भी हमें ज्ञात नहीं है। उस पर से आवरण हटा देना ही उसे पा लेना है।

वर्ण-व्यवस्था की अमान्यता

महावीर के आत्म-जागरणकारी उपदेश का परिणाम बड़ा गम्भीर हुआ। जो व्यक्ति या जातियां अपने को जन्मतः हीन मानने लगी थीं या उन्हें ऐसा मानने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए बाध्य कर दिया गया था, उनमें आत्म-गौरव जागरित हुआ। हरिकेशबल जैसे चाण्डाल-कुलोत्पन्न शूद्रत्व की सीमा से बाहर निकले और संन्यस्त होकर देव-पूजित बन गये। जन्मना शूद्रत्व मानने वाले धार्मिक पुरोहितों पर भी उसका गंभीर परिणाम हुआ। वे भी सहस्रों की संख्या में भगवान् महावीर के शिष्य बनकर मानव जाति के समानत्व का प्रचार करने में लग गये।

महावीर के समकालीन बुद्ध ने भी वर्ण-व्यवस्था को अमान्य किया था। श्रमण परम्परा की इन दोनों धाराओं ने एक बार के लिए समग्र भारत की आत्मा को आन्दोलित कर दिया था। यह दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि वह आवाज कालान्तर में क्षीण हो गयी और वर्ण-व्यवस्था को मान्य करने वालों ने पुनः प्रबलता से उसकी स्थापना कर डाली। परन्तु तब से वह आवाज कभी बन्द नहीं हो पायी। आगे से आगे अनेक व्यक्तियों ने, यहां तक कि स्वयं वैदिक धर्म को मान्य करने वालों ने भी वह आवाज उठायी। इस युग में महात्मा गांधी ने तो इसे समग्र भारत का एक यक्ष-प्रश्न बना दिया था। फिर भी अभी तक आत्म-जागरण की वह लौ सर्वथा बुझी नहीं है, तो इतने वेग से प्रज्वलित भी नहीं हो पायी है कि जिससे वर्ण-व्यवस्था की वह पुनरुजीवित भावना जलकर राख हो जाए। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न अस्पृश्यता को भारत ने आज कानूनी अपराध घोषित कर दिया है फिर भी व्यावहारिक धरातल पर अभी उसे पराजित करना शेष है। आत्म-जागरण का अभाव ही उसमें बाधक बना हुआ है। कानून अपने आप में निर्जीव ही बना रहता है, जब तक कि जनता के आत्म-जागरण का चैतन्य उसमें नहीं आ जाता।

नारी जागरण का सूत्रपात

वर्ण-व्यवस्था को अमान्य करने के अतिरिक्त भगवान् महावीर की दूसरी सामाजिक देन थी—नारी-जाति का जागरण। उस युग में नारी का महत्त्व एक भोग-सामग्री से बढ़कर कुछ नहीं था। धन-धान्य आदि के समान वह भी परिग्रह की ही एक वस्तु मात्र थी। उसके शोषण की कहानी करुणार्द्र कर देने वाली है। मनुष्य ने मन्दिरों में उसे देवदासी बनाया, विधवा हो जाने पर पति के शव के साथ ही दग्ध हो जाने के लिए बाध्य किया, पाप, पतन और नरक की काली छाया कहकर त्याज्य बतलाया। नारी ने भी उस सबको अपना दुर्भाग्य समझकर स्वीकार कर लिया। उसके परित्याग की कहानी रामायण से लेकर निरन्तर सुनने में आती रही है। इस प्रकार की कठोर पृष्ठभूमि में महावीर की उक्त देन का महत्त्व आंका जा सकता है। उनके सम-सामयिक गौतम बुद्ध जैसे समर्थ व्यक्ति भी अपने संघ में नारी को स्थान देने का साहस नहीं कर पाये थे। बाद में जब अपने प्रिय शिष्य आनन्द के दबाव से उन्होंने स्त्री को संघ में स्थान दिया तो अनिच्छा से ही दिया और उसे संघ के लिए खतरा बतलाया जो कि बाद में सत्य भी निकला। परन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर को न कभी वैसा भय हुआ और न उनके संघ में कभी वैसी स्थिति पनपी ही। उन्होंने साधना के क्षेत्र में पुरुष के समान ही स्त्री को महत्त्व दिया और उसे मोक्ष की अधिकारिणी माना। आज समानता की बात करना सहज है, परन्तु आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ऐसा सोच पाना भी सहज नहीं था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि तब इसे सिद्धान्ततः प्ररूपित करने और वैसी व्यवस्था कर उसे कार्य रूप देने में कितना साहस और धैर्य चाहिए था। महावीर के इस कार्य को नारी-जाति के आत्म-जागरण का सूत्रपात कहा जा सकता है।

अहिंसा और अनेकान्त

अहिंसा और अनेकान्त भगवान् महावीर की आध्यात्मिक और दार्शनिक देन कही जा सकती हैं। यज्ञ की हिंसा को हिंसा तक न मानने वालों के युग में वायु और वनस्पति तक के सूक्ष्म जीवों के प्रति आत्मीयता बतलाना तथा समग्र विश्व में अहिंसा-स्थापना की भावना रखना बहुत बड़े आत्म-विश्वास की ही बात हो सकती है। उनकी अहिंसा-वृत्ति का प्रभाव इतना व्यापक हुआ कि हिंसा-धर्मियों को भी '**अहिंसा परमो धर्मः**' कहने के लिए बाध्य होना पड़ा।

आचार क्षेत्र में जहां अहिंसा ने अध्यात्म भाव को आगे बढ़ाकर जन-मानस को जगाया, वहां विचार-क्षेत्र में अनेकान्तवाद ने। यद्यपि भगवान् महावीर ने अहिंसा और अनेकान्त का उपयोग धर्म-क्षेत्र में ही किया, परन्तु ये सामाजिक, राजनीतिक आदि अन्य क्षेत्रों में भी संघर्ष-मुक्ति और समन्वय के लिए उपयोगी हो सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसावतार भगवान् महावीर

आध्यात्मिक महापुरुषों में भगवान् महावीर का नाम बड़े गौरव के साथ अग्रिम श्रेणी में लिया जाता है। उन्होंने भौतिकवाद में पगी जनता की विचारधारा को आध्यात्मिकता की ओर युगान्तरकारी मोड़ प्रदान किया तथा जड़ प्रकृति की गवेषणा में व्यस्त मानवीय चिन्तन को चेतनामय आत्मा की गवेषणा का नया आयाम दिया। उसमें मनुष्य के लिए स्थूल से सूक्ष्म की ओर तथा बहिरंग से अन्तरंग की ओर प्रस्थान करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। उन्होंने अपनी जीवन-पद्धति और विचार-पद्धति—दोनों से ही जन-मानस को अत्यन्त प्रभावित किया। अहिंसा धर्म के तो वे अवतार ही माने जाते थे।

रमे नहीं वैभव में

भगवान् महावीर वैभव में जन्मे और वैभव में ही पले-पुसे। परन्तु उनका मन उसमें नहीं रमा। वे मानवीय संस्कारों के विषय में सोचते, मनन करते और उन्हें विकसित करने के उपाय खोजते। वह ऐसा युग था, जिसमें धर्म के नाम पर सहस्रों निरीह पशुओं की बलि दी जाती थी। वर्णाश्रम-व्यवस्था का रूप इतना दूषित हो गया था कि उससे मनुष्य ही मनुष्य के लिए अस्पृश्य बन चुका था। दास-प्रथा ने मनुष्य के जीवन को पशु से भी हीनतर बना दिया था। समाज के अर्धांग नारी जाति के लिए विकास के सब द्वार बन्द किये जा चुके थे। वह मात्र एक भोग-सामग्री के रूप में ही प्रतिष्ठित रह गयी थी।

साधना के पथ पर

भगवान् महावीर ने इन सभी परिस्थितियों को देखा, उनके मूल को समझा और फिर उनके निराकरण का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उन्होंने पहले पहल स्वयं को साधने की तैयारी की। तीस वर्ष की परिपूर्ण युवावस्था में समग्र परिवार और राज्य का मोह छोड़कर वे साधना में लीन हो गये। साढ़े बारह वर्ष की सुदीर्घ साधना के द्वारा उन्होंने स्वयं को ही अपने सिद्धान्तों की कसौटी पर परखा। आखिर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना पूर्ण हुई। आत्मज्ञान की प्रखर ज्योति प्रज्वलित हुई। आत्म-विजय की उस परमोन्नत अवस्था में वे 'जिन' कहलाए। जिनत्व-प्राप्ति के पश्चात् ही उन्होंने संसार को धर्म-सन्देश दिया। उससे पूर्व वे निरन्तर मौन तपस्वी बने रहे।

रत्नत्रयी

उन्होंने अपने धर्म-सन्देश में हर व्यक्ति के लिए सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र के रूप में रत्नत्रयी की आवश्यकता बतलायी। साधना-मार्ग में प्रविष्ट होने के लिए सर्वप्रथम सम्यग् दर्शन अर्थात् सम्यक् श्रद्धा की आवश्यकता है। भौतिक पदार्थों से परे आत्मादि तत्त्वों पर श्रद्धा हुए बिना साधना के लिए कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किया जा सकता। निर्लक्ष्य साधना तो निरुद्देश्य भटकने के समान व्यर्थ का प्रयास मात्र है। कोरी श्रद्धा से भी काम नहीं चल सकता, अतः उन्होंने कहा—श्रद्धाशील व्यक्ति को सतत मनन करते रहना चाहिए, जो कि श्रद्धा और विश्वास को सम्यक् ज्ञान और प्रकाश के रूप में परिणत कर देता है। यहां भी रुकने की आवश्यकता नहीं है। आगे बढ़कर अपने ज्ञान को आचरण में ढालना चाहिए। यही सम्यक् चारित्र है। आचरण-शून्य कोरा शब्द-ज्ञान या सिद्धान्त-ज्ञान त्राता नहीं हो सकता। साधना के इस मार्ग को उन्होंने ब्राह्मण, शूद्र, स्त्री-पुरुष सभी के लिए समान रूप से मोक्षदायी बतलाया।

महाव्रत : अणुव्रत

उन्होंने सदाचरण के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच व्रतों की प्ररूपणा की। संन्यस्त जीवन बिताने वाला इन्हें अखण्ड रूप से स्वीकार करता है तब ये महाव्रत कहलाते हैं और गृहस्थ जीवन बिताने वाला इन्हें क्रमिक विकास की भावना से यथाशक्य ग्रहण करता है, तब अणुव्रत।

पांचों व्रतों का मूल उन्होंने अहिंसा को बतलाया। अहिंसा की भावना मन में प्रतिष्ठित नहीं हो जाती, तब तक अन्य किसी भी व्रत की निष्ठापूर्ण साधना असम्भव है। उन्होंने बतलाया कि अहिंसा का अर्थ प्राणिवध-वर्जन मात्र ही नहीं है, अपितु वह प्राणिमात्र को आत्मोपम्य मानने से भी सम्बद्ध है। उसका फलित होता है—विश्वप्रेम। सूक्ष्मता की दृष्टि से कहा जाए, तो अहिंसा का सम्बन्ध अन्य प्राणियों की अपेक्षा स्वयं से अधिक है, अतः अपनी दूषित प्रवृत्ति और दूषित चिन्तन भी हिंसा में समाविष्ट है इसीलिए पूर्ण अहिंसा की साधना के स्तर पर शेष सभी व्रतों का उसमें समावेश हो जाता है।

अहिंसा

भगवान् महावीर ने अहिंसा को प्रथम धर्म इसलिए भी कहा कि उसमें समाज की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्कालीन समस्याओं का समाधान निहित था। वे जानते थे कि अहिंसा की भावना पनपेगी तो आत्म-तुल्यता के आधार पर पशु-पक्षियों के प्रति दया की भावना जागेगी। उससे यज्ञ तथा रस-लोलुपता के लिए किया जाने वाला पशुवध बन्द होगा। इसी प्रकार दास-प्रथा, अस्पृश्यता और स्त्री-लघुता की भावनाएं भी मिटेंगी। यद्यपि युग-प्रवाह हिंसा का समर्थक था, परन्तु उन्होंने निर्भीकतापूर्वक अपने विचार रखे और उस प्रवाह को बदलने में सफल हुए। आज भारत की कोटि-कोटि जनता के मन में अहिंसा के प्रति जो अनुराग है, उसमें भगवान् महावीर के उस उपदेश का परिपूर्ण प्रभाव है।

अनेकान्त

मनुष्य अपनी क्रियाओं के द्वारा तो हिंसा में प्रवृत्त होता ही है, पर विचारों से भी होता है, अतः विचार जगत् में अहिंसा के प्रवेशार्थ उन्होंने अनेकान्तवाद का निरूपण किया। उन्होंने कहा—हर पदार्थ या तत्त्व को अनेक दृष्टियों से देखो। एकान्त दृष्टि से देखने पर उसके साथ न्याय नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते हैं, अतः हमारी दृष्टि भी उन सब पहलुओं को समन्वित रूप से देखकर निर्णय करने वाली होनी चाहिए। किसी एक ही पक्ष का आग्रहपूर्ण पोषण अहिंसावादी के लिए उपयुक्त नहीं। अनेकान्तवादी होकर ही वैचारिक क्षेत्र में अहिंसा की पालना की जा सकती है।

प्रासंगिक हैं आज भी

भगवान् महावीर के युग से लेकर अद्यतन युग तक विचारों व व्यवहारों में बहुत-बहुत परिवर्तन आये हैं। बहुत-सी प्राचीन मान्यताएं व धारणाएं विलुप्तप्राय हो चुकी हैं। सामाजिक तथा सैद्धान्तिक क्षेत्र में भी अनेक नये मोड़ आ चुके हैं, फिर भी भगवान् महावीर ने अहिंसा और अनेकान्त के अपने महान् सिद्धान्तों द्वारा जिस दृष्टिकोण का निरूपण किया, उसकी आज भी उतनी ही आवश्यकता है।

अहिंसावतार भगवान् महावीर की निर्वाण-जयन्ती के इस अवसर पर उनके श्रीचरणों में हम तभी श्रद्धांजलि अर्पित करने के अधिकारी हो सकते हैं, जबकि उनके उपदेशों को जीवन में स्थान दे पायें और विश्व-प्रेम तथा समन्वयी दृष्टिकोण को आगे बढ़ा पायें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसक क्रान्ति के पुरोधा : भगवान् महावीर

वर्द्धमान से महावीर

भगवान् महावीर भारत के उन नर-रत्नों में से एक थे, जिनके व्यक्तित्व का प्रभाव युगों-युगों तक जीवित रहता है और मानव जाति के प्रगति-मार्ग पर प्रकाश फैलाता है। अपने लिए जीने वालों की संसार में कोई कमी नहीं है, परन्तु अपने जीवन को सबके लिए समर्पित कर डालने वालों की संख्या तो अंगुलियों पर गिनने योग्य ही पायी जाती है। भगवान् महावीर उन अंगुलिगण्य व्यक्तियों की अग्रसंख्या में थे। मनुष्य अपने कर्तव्य के बल पर भगवान् बन जाता है---इस सत्य के वे एक सजीव उदाहरण थे।

उनका जन्म ई० पू० सन् ५९९ में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ। ज्ञातृवंशी राजा सिद्धार्थ उनके पिता और विदेह जनपद की राजकुमारी त्रिशला उनकी माता थी। बिहार प्रदेश के अंतर्गत क्षत्रिय कुंडनगर उनका जन्म-स्थान था। उनके जन्म के साथ ही राज्य में धन-धान्य और आनंद की प्रचुर वृद्धि हुई, अतः माता-पिता ने उनका गुणानुरूप नाम वर्द्धमान रखा। बाद में वे 'महावीर' नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। यह नाम उनकी निर्भयता, बलवत्ता और सहिष्णुता की पराकाष्ठा देखकर जनता द्वारा दिया गया। वस्तुतः उनका समग्र जीवन उस वीरता की ही एक कहानी था, जिसमें क्रूरता या पर-पीड़न के लिए नाममात्र को भी स्थान नहीं था।

वह युग

महावीर जिस वंश में उत्पन्न हुए थे, उनमें स्वावलम्बन, स्वतंत्रता और समानता को बहुत महत्त्व प्राप्त था, अतः प्रारम्भ से उनकी वृत्ति इन गुणों से अनुप्राणित रही। आगे चलकर ये ही बीज आध्यात्मिकता की भूमि पर अंकुरित हुए और समग्र प्राणियों के लिए शुभफलदायी बने।

तीस वर्ष तक वे घर में रहे। यौवन, सम्पत्ति और सत्ता की प्रचुरता चारों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर बिखरी हुई थी, फिर भी उनके मन में उन सबके प्रति कोई आकर्षण नहीं था। वे तत्कालीन मानव-समाज में व्याप्त धार्मिक, नैतिक और सामाजिक कुंठाओं के निराकरण की बात सोचते रहे। ज्यों-ज्यों वे इस विषय के चिंतन की गहराइयों में उतरते गए, त्यों-त्यों अधिकाधिक स्पष्टता के साथ यह अनुभव करने लगे कि जीवन के प्रति जनता के सोचने के प्रकार में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। उन्होंने उस समय की समस्याओं का समाधान सुधार में नहीं, किन्तु विचार क्रान्ति में ही संभव पाया।

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व के युग को अपनी कल्पना की रील पर उतार कर जरा ध्यान से देखिए। कैसा था वह युग, कितनी रूढ़ परम्पराओं और दंभों से घिर गया था उस समय का मानव जीवन? पर्वत की चोटी से फिसले हिम-खंड की तरह सारा समाज ही बड़ी तेजी से नीचे की ओर लुढ़कता जा रहा था। बचाव असंभव लग रहा था, विनाश सुनिश्चित। उस समाज को विनाश की ओर जाने से कौन रोक सकता है, जिसने जातिगत श्रेष्ठता और हीनता के विचारों की कल्पनात्मक दीवार खड़ी करके मनुष्य-मनुष्य में परस्पर अलगाव उत्पन्न कर दिए हों। धर्म के नाम पर संख्यातीत मूक पशुओं की बलि चढ़ाने को मान्यता प्रदान की हों, धर्म विषयक अधिकार जाति विशेष के लिए ही सुरक्षित कर दिए हों और मातृजाति को ज्ञान के अधिकार से सर्वथा वंचित कर दिया हो।

महान् निर्ग्रंथ

भगवान् महावीर ने तत्कालीन भारतीय समाज की सभी समस्याओं पर विचार किया और उनके उद्गम को खोज निकाला। उन्होंने पाया कि सभी समस्याएं मानव-हृदय में व्याप्त होती हैं। जब तक एतद् विषयक अज्ञान दूर नहीं कर दिया जाता, तब तक किसी भी समस्या का समुचित समाधान हो नहीं सकता। वस्तु-स्थिति जान लेने के पश्चात् अज्ञान-मूलक रूढ़ियों का अंत स्वतः ही संभव हो जाता है। इसीलिए उन्होंने अपने अन्तर्दर्शन में ज्ञान को अनिवार्य बतलाया और उसी के प्रकाश में की जाने वाली क्रियाओं को महान् फलदायिनी बताया। अज्ञान या मिथ्यात्व को उन्होंने भव-भ्रमण का मूल हेतु माना।

दूसरों को मार्ग बतलाने से पूर्व वे स्वयं चरम सीमा तक उसका निरीक्षण कर लेना आवश्यक समझते थे, इसीलिए ३० वर्ष की पूर्ण युवावस्था में ही उन्होंने सभी प्रकार के सहज प्राप्त इन्द्रिय-सुखों को ठोकर मार दी और आत्म-विजय के मार्ग पर निर्भय होकर एकाकी ही आगे बढ़ चले। वे आभ्यन्तर और बाह्यरूप से सभी प्रकार की ग्रंथियों से मुक्त होकर निर्ग्रंथ बन गए। निर्ग्रंथ बनने के साथ ही उन्होंने जो प्राथमिक प्रतिज्ञाएं की, उनमें से कुछ निम्नोक्त हैं—

१. आज से मैं समस्त पापाचरणों से निवृत्त होता हूं। मन, वचन और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काया से न मैं कोई सपाप आचरण करूंगा, न किसी से ऐसा आचरण करवाऊंगा और न किसी के ऐसे आचरण का अनुमोदन करूंगा।

२. आज से मैं व्युत्सृष्टकाय त्यक्त-देह होकर विहार करूंगा। काया के बचाव को महत्त्व नहीं दूंगा, लक्ष्य सिद्धि के लिए उसे भी होम देने को तैयार रहूंगा।

३. किसी के द्वारा दिए गए अथवा सहज उत्पन्न कष्टों को समभाव से सहूंगा। उनकी निवृत्ति के लिए किसी की सहायता स्वीकार नहीं करूंगा।

४. राग और द्वेष के बंधन से दूर रहकर वीतराग भाव की आराधना करूंगा।

उपर्युक्त प्रतिज्ञाओं के साथ ही महावीर का साधना काल प्रारम्भ हुआ। यह काल लगभग साढ़े बारह वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। इसमें वे बहुधा मौन, एकांतवास, अभय, तपश्चर्या और तत्त्व चिंतन में लीन रहे। फलस्वरूप उन्हें मन, वचन और तन की पूर्ण निर्दोषता प्राप्त हुई और वे वीतराग बन गए। उसी समय उन्हें कैवल्य की भी प्राप्ति हुई। जिस प्रकार शिव ने काम को भस्म किया था, बुद्ध ने मार पर विजय पायी थी, उसी प्रकार महावीर ने मोह का विनाश किया और वे आत्मजयी बने।

साधना की पूर्णता के पश्चात् उन्होंने धर्मोपदेश दिया और जनता को कल्याण का मार्ग बतलाया। संन्यस्तों के लिए महाव्रत तथा गृहस्थों के लिए अणुव्रत धर्म की साधना को उन्होंने आवश्यक बतलाया। उनके उपदेशों का ऐसा अचूक प्रभाव हुआ कि महान् यज्ञकर्मी इन्द्रभूति आदि अनेक विद्वान् व अभिमानी ब्राह्मणों, स्कंदक आदि अनेक तापसों, उदयन आदि अनेक प्रभावशाली राजाओं तथा वैश्य, कुम्हार, कृषक और शूद्र कही जाने वाली जातियों तक ने उनकी शिष्यता स्वीकार की।

भगवान् महावीर ने समाज में जाति या वर्ण के आधार पर खड़े किये गए वैषम्य का बड़ी प्रबलता से खंडन किया। उन्होंने कहा—सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक है। उसमें उच्चावचता का भेद डालना भयंकर अपराध है। जातीय-विशेष में उत्पन्न होने मात्र से कोई पूजनीय नहीं बन जाता, पूजनीय तो गुणोत्कर्ष से बनता है।

उन्होंने मनुष्य मात्र के लिए धर्मपालन में समान अधिकार की घोषणा की। अहिंसा को परम धर्म बताते हुए उन्होंने कहा—यज्ञार्थ की जाने वाली पशुबलि अज्ञान का प्रतिफल है। उनका यह उपदेश युगवाणी बनकर जनता के हृदय में समाता चला गया।

आत्म-विजय

भगवान् महावीर द्वारा बतलाए गए मार्ग को यदि किसी एक ही शब्द में व्यक्त करना हो तो वह शब्द होगा—'आत्म-विजय'। इसके बिना किसी भी साधक की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना पूर्ण नहीं हो सकती। आत्म-विजय पर उन्होंने कितना बल दिया, यह उनके निम्नोक्त उद्‌गारों से स्पष्ट हो जाता है—

१. वास्तविक विजेता वह नहीं है, जो भयंकर युद्ध में लाखों मनुष्यों पर विजय पा लेता है, किन्तु वह है जो अपने आप पर विजय पा लेता है।

२. यदि तुम्हें युद्ध ही प्रिय है, तो बाहर के इन तुच्छ युद्धों को छोड़कर अपने आप से युद्ध करो। आत्मजयी ही इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है।

३. तुम स्वयं ही अपने शत्रु तथा मित्र हो। उन्हें बाहर खोजना व्यर्थ है।

४. स्वयं ही स्वयं को देखो और निर्णय करो कि तुमने क्या किया है तथा क्या करना चाहिए।

अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त

भगवान् महावीर ने अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त पर विशेष बल दिया। अहिंसा से उनका तात्पर्य किसी प्राणी की हत्या से बचने तक ही सीमित नहीं था, किन्तु बुरे चिंतन को भी उन्होंने हिंसा माना और उससे बचना आवश्यक बतलाया। अपरिग्रह से भी उनका तात्पर्य अर्थ-संग्रह न करने मात्र से न होकर यह था कि वस्तु के प्रति ममत्व-बुद्धि का विसर्जन ही अपरिग्रह है। ममत्व मिटे बिना संग्रह-बुद्धि मिट नहीं पाती। अनेकान्त से उनका तात्पर्य था—किसी भी तत्त्व या पदार्थ को एकांत दृष्टि से देखने पर उसके साथ न्याय नहीं किया जा सकता। प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते हैं, अतः हमारी दृष्टि भी उन सभी पहलुओं को समन्वित रूप से देखकर निर्णय करने वाली होनी चाहिए। अन्यथा हम किसी एक ही पक्ष का आग्रह-पूर्ण पोषण करते हुए असत्य के पोषक बन सकते हैं।

अहिंसा का सिद्धांत कलहों और युद्धों में आसक्त मानव-जाति को शांति का वरदान दे सकता है। अपरिग्रह का व्यवहार सामाजिक जीवन की विषमताओं और शोषण के विपरीत समता की स्थापना में सहयोगी हो सकता है। उसी प्रकार अनेकान्त का प्रयोग, वस्तु, व्यक्ति और विचारों के प्रति हमें सहनशील तथा गवेषी बनकर न्यायवादी बनने की प्रेरणा देता है।

महावीर के उपदेश : वर्तमान युग

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उन्होंने जो सिद्धांत मानव जाति के सम्मुख रखे थे, उनका उपयोग आज भी उतना ही आवश्यक जान पड़ता है, जितना कि उस युग में था। आज तो कहीं अधिक हिंसा, अर्थ-संग्रह और पक्ष-प्राबल्य चल रहा है। विनाशकारी अस्त्रों के निर्माण ने मानव-सभ्यता को विनाश के कगार पा ला खड़ा किया है। व्यक्ति से व्यक्ति का शोषण आगे बढ़कर राष्ट्र से राष्ट्र का शोषण बन गया है। विश्व अनेक शिविरों में विभक्त हो गया है और प्रत्येक शिविर का नेता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने ही विचार को पूर्ण सत्य मानकर अन्य को भी मनवाने का आग्रही बना हुआ है। अपने विरोधी राष्ट्र का मान-मर्दन करने के लिए दूसरे राष्ट्र वहां आतंकवाद को प्रश्रय देकर आतंक फैलाने तथा उसे विघटित करने का प्रयास कर रहे हैं। हीनता ग्रंथि से पीड़ित अनेक आतंकवादी संगठन निरपराध नागरिकों की हत्या कर स्वयं को कृतकृत्य मान रहे हैं। धर्म, भाषा और मतवाद आदि के नाम पर अनेक संगठन पारस्परिक विवाद में खम ठोककर एक-दूसरे को पराजित करने पर तुले हुए हैं। ऐसी स्थिति में भगवान महावीर के ये अहिंसा, मैत्री, समता एवं सहिष्णुता के उपदेश और भी अधिक आवश्यक तथा सामयिक हो गए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्पण एक : हजारों चेहरे

आचार्यभिक्षु का समस्त जीवन उस पवित्र पुस्तक के समान था, जिसके प्रत्येक पृष्ठ की प्रत्येक पंक्ति प्रेरणादायक होती है। सार्थक व सोद्देश्य शब्द-संयोजन, निर्भीक व निर्लिप्त अभिव्यक्ति और साद्यन्त सत्य-प्रतिबद्धता, ये उस पुस्तक की पवित्रता के साक्ष्य हैं। जिसने भी उसे पढ़ा, नयी स्फूर्ति से भर गया। सहस्रों-सहस्रों व्यक्ति उनके सम्पर्क में आते रहते थे, उनमें अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों ही प्रकार के होते थे, परन्तु उनसे प्रभावित हुए बिना शायद ही कोई बच पाता था।

नदी के प्रवाह की तरह निरन्तर गतिशील स्वामीजी की संयम-यात्रा की प्रत्येक लहर न जाने कितने व्यक्तियों की पिपासा शान्त कर गई, कितनों के उत्ताप का हरण कर गई और कितनों की सूखती हुई खेतियां लहलहा गईं। साथ में यह भी सत्य है कि न जाने वह कितने अवरोधों को ढहाकर अपने साथ बहा ले गई।

जन-कल्याण के उद्देश्य से किया गया स्वामीजी का जन-सम्पर्क रत्नत्रयी की वृद्धि करने में अत्यन्त सफल रहा। सम्पर्क विषयक विचित्र घटनाएं इक्षु के छोटे-छोटे पोरों की तरह अत्यन्त सरस और सुमधुर तो हैं ही, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से बलदायक भी हैं।

स्वामीजी का जीवन-पट घटनाओं के ही ताने-बाने से बुना हुआ था, इसलिए कहा जा सकता है कि उन्हें घटनाओं के माध्यम से जितनी सरलता से समझा जा सकता है, उतनी सरलता से अन्य किसी माध्यम से नहीं। प्रत्येक घटना उनके विविधांगी जीवन के किसी-न-किसी नये पहलू की अवगति प्रदान करती है। हीरे के पहलुओं के समान सभी घटनाओं का अपना-अपना पृथक् सौन्दर्य और पृथक् कटाव-छंटाव है। फिर भी सम्पूर्ण जीवन-सौन्दर्य के साथ उनका अविकल सामंजस्य बना हुआ है।

बुराई में भी भलाई की खोज

संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे, जो अपने कानों से अपनी निंदा सुनकर भी उत्तेजित न हों। स्वामीजी में यह विशेषता इतनी उत्कृष्ट थी कि वे अपनी निंदा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को हंसते हुए सुन ही नहीं लेते थे, किन्तु अपने ही हाथों से उन बातों को लिख भी लेते थे। उनके हाथ से लिखे हुए ऐसे अनेक पत्र आज भी सुरक्षित हैं, जिन पर उनके तथाकथित अवगुण लिखे हुए हैं।

उनके जीवन में ऐसे अवसर अनेक बार आये, जब स्वयं उन्हीं के सामने तथा अगल-बगल के स्थानों पर विरोधी लोग उनके विरुद्ध प्रचार करने लगे और वे चुपचाप सुनते रहे। स्वामीजी अपने विरोधियों द्वारा किये गये किसी भी कार्य को प्रायः गुण रूप में लेने का ही प्रयास किया करते थे। कहा जा सकता है कि वे अनन्य रूप से गुणग्राही व्यक्ति थे। गुण को ग्रहण करना और मानना एक बात है, पर किसी के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निंदा किये जाने पर भी उसमें कहीं-न-कहीं गुण को खोज निकालने का प्रयास करना बिलकुल दूसरी बात है। यह तो किसी महापुरुष का ही कार्य हो सकता है। स्वामीजी निस्संदेह ऐसे ही व्यक्तियों में से थे, जो बुराई में भी भलाई खोज लेते हैं।

अवगुण निकालने ही हैं

किसी ने आकर स्वामीजी को बतलाया कि अमुक स्थान पर लोग एकत्रित हो रहे हैं और वहां अमुक व्यक्ति आपके अवगुण निकाल रहा है।

स्वामीजी बोले—'निकाल ही रहा है, डाल तो नहीं रहा? यह तो बहुत अच्छी बात है। मुझे अवगुण निकालने ही हैं। कुछ मैं निकालूंगा, कुछ वह निकालेगा, चलो, इस प्रकार वे और भी शीघ्र निकल जाएंगे।'

ठोक-बजाकर देखता है

एक बार चर्चा में पराजित होकर एक भाई नेअ ावेशवश स्वामीजी की छाती पर मुक्का मारा और चल दिया। साधुओं को वह बहुत बुरा लगा। उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि ऐसे अयोग्य व्यक्तियों से चर्चा करने में कोई लाभ नहीं है।

स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा—'जब कोई मनुष्य दो-चार पैसे मूल्य की मिट्टी की हंडिया खरीदता है, तब पहले उसे ठोक-बजाकर देख लेता है कि कहीं फूटी हुई तो नहीं है? यहां तो फिर जीवन भर के लिए गुरुधारणा करने की बात है, अतः यह बेचारा ठोक-बजाकर देख लेना चाहे, तो अनुचित क्या है?'

साधु कौन और ढोंगी कौन?

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—'संसार में साधु का वेश पहनने वालों की संख्या बहुत है। उनमें सच्चे कौन हैं और ढोंगी कौन?'

स्वामीजी ने कहा—'किसी वैद्य से एक अचक्षु व्यक्ति ने पूछा—इस नगर में नंगे कितने हैं और सवस्त्र कितने? वैद्य ने कहा—उनकी गिनती करना मेरा काम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। मैं औषधि के द्वारा तुम्हारी दृष्टि ठीक कर देता हूं, फिर तुम स्वयं गिन लेना। इसी प्रकार व्यक्तिशः किसी के विषय में कुछ कहना मेरे लिए उचित नहीं। मैं साधु के लक्षण बतलाकर तुम्हें दृष्टि प्रदान कर सकता हूं, फिर साधु और असाधु के विषय में जांच तुम स्वयं कर लेना।

पूर्वजों का अस्तित्व

एक बार केलवा के ठाकुर मोखमसिंहजी ने स्वामीजी से पूछा—'आप आगम सुनाते हैं, उसमें भूत और भविष्य सम्बन्धी अनेक घटनाएं आती हैं, परन्तु उन्हें किसी ने देखा नहीं है, अतः वे सत्य हैं या नहीं, इसका निर्णय कैसे हो?'

स्वामीजी ने कहा—'तुम अपने पूर्वजों के नाम तथा उनके जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाएं जानते हो, परन्तु उनको तुमने देखा नहीं है, तब उनकी सत्यता पर कैसे विश्वास करते हो?'

ठाकुर बोले—'पूर्वजों के नाम तथा उनकी जीवनियां भाटों की पुस्तकों में लिखी हुई हैं, उन्हीं के आधार पर हम जानते हैं।'

स्वामीजी ने कहा—'भाटों के असत्य बोलने तथा लिखने का त्याग नहीं है, फिर भी उनकी लिखी घटनाओं को सत्य मानते हो, तब ज्ञानियों द्वारा प्ररूपित शास्त्रों को सत्य मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।'

ठाकुर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—'प्रश्नों का ऐसा प्रभावशाली उत्तर देने वाला अन्य कोई व्यक्ति मैंने नहीं देखा।'

छह महीने बचे

वि० सं० १८५३ में स्वामीजी मांढा पधारे। वहां गृहस्थावस्था में हेमजी ने सिरियारी से आकर दर्शन किये। दूसरे दिन प्रातः स्वामीजी ने कुशलपुर की ओर विहार किया तथा हेमजी नीमली के मार्ग से सिरियारी की ओर चल दिये। मार्ग में स्वामीजी को अच्छे शकुन नहीं हुए, अतः वे भी मार्ग को छोड़कर नीमली की ओर ही आ गये। हेमजी की गति मन्द थी और स्वामीजी की तेज, अतः पीछे से चलने पर वे उनसे आ मिले। स्वामीजी ने आवाज देते हुए कहा—'हेमड़ा! हम भी इधर ही आ रहे हैं।'

हेमजी ने स्वामीजी को देखा, तो ठहरकर वन्दन किया और पूछा—'आपने तो कुशलपुर की ओर विहार किया था, फिर इधर कैसे?'

स्वामीजी ने कहा—'यही समझ ले कि आज तेरे लिए ही आये हैं।'

हेमजी ने कहा—'बड़ी कृपा की।'

स्वामीजी बोले—'तू लगभग तीन वर्ष से कह रहा है कि मेरी दीक्षा लेने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना है, पर अब अपना निश्चित निर्णय बतला कि मेरे जीते जी लेगा या मरने के पश्चात् ?'

स्वामीजी की उक्त बात हेमजी के हृदय में चोट कर गयी। वे खिन्न होकर बोले—'आप ऐसी बात क्यों कहते हैं ? मेरे कथन की सत्यता में आपको शंका हो तो नौ वर्ष के पश्चात् अब्रह्मचर्य का त्याग करा दें।'

स्वामीजी ने त्याग करवा दिये और कहा—'लगता है विवाह करने की इच्छा से तूने ये नौ वर्ष रखे हैं। परन्तु तुझे यह समझ लेना चाहिए कि लगभग एक वर्ष विवाह होते-होते लग जायेगा। विवाह के पश्चात् यहां प्रथा के अनुसार एक वर्ष तक स्त्री पीहर में रहेगी। इस प्रकार तेरे पास सात वर्ष का समय रहा। उसमें भी दिन के अब्रह्मचर्य का तुझे परित्याग है, अतः साढ़े तीन वर्ष ही रहे। इसके अतिरिक्त तुझे पांचों तिथियों के भी त्याग हैं। उन दिनों को बाद देने पर शेष दो वर्ष और चार महीने का समय ही बचता है। उन अवशिष्ट दिनों में भी सारा समय भोग-कार्य में नहीं लगता। प्रतिदिन घड़ी भर का समय गिना जाये, तो लगभग छह महीने का समय होता है। अब सोच कि केवल छह मास के भोग के लिए नौ वर्ष का संयम खो देना कौन-सी बुद्धिमत्ता है? यदि एक-दो संतान हो जाए, तब फिर व्यक्ति उनके मोह में उलझ जाता है। उस स्थिति में संयम-ग्रहण करना कठिन हो जाता है।' स्वामीजी के उक्त लेखे-जोखे ने हेमजी की संयम-भावना को उद्दीप्त कर दिया और उन्होंने उसी समय पूर्ण ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लिया। कुछ दिनों के अनन्तर तो वे प्रव्रजित ही हो गये।

अमृतमयी प्रेरणा के सूत्रधार

आचार्य भिक्षु अध्यात्म-प्रेरणा के एक महान् स्रोत थे। उनका प्रत्येक कार्य व्यक्ति के अध्यात्म-भाव को जागृत करने वाला होता था। उनके मुख से निःसृत वाणी का निर्झर व्यक्ति के हृदय को विराग भाव से सिञ्चित कर जाता था। जो उनके संपर्क में आता, वह मोह से अमोह की ओर, प्रमाद से अप्रमाद की ओर तथा अज्ञान से ज्ञान की ओर आगे बढ़ने की अमृतमयी प्रेरणा प्राप्त करता था।

रूपांजी की चिंता छोड़

वि० सं० १८५५ का चातुर्मास स्वामीजी ने पाली में किया। वहां मुनि खेतसीजी अचानक रुग्ण हो गये। वमन और अतिसार ने उनके शरीर को शिथिल बना दिया। रात्रि में शारीरिक आवश्यकता से वे बाहर गये तो वापस आते समय मार्ग में ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। धमाका सुनकर स्वामीजी जाग पड़े। उन्होंने मुनि हेमराजजी को जगाया। दोनों ने मिलकर मार्ग में मूर्च्छित पड़े मुनि खेतसीजी को उठाया और बिछौने पर लाकर लिटाया। उनकी शारीरिक दशा देखकर स्वामीजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने मुनि हेमराजजी से कहा—देख, संसार की माया कितनी कच्ची है ? खेतसीजी जैसा प्रबल व्यक्ति एक ही दिन में इतना निर्बल हो गया। वे उनके पास बैठकर शरण आदि दिलाने लगे। कुछ समय पश्चात् उनकी मूर्च्छा टूटी, तब स्वामीजी से कहने लगे—'आप रूपांजी को पढ़ाने की कृपा करना।' स्वामीजी ने तत्क्षण टोकते हुए कहा—'रूपांजी की चिन्ता छोड़ और अपनी चिंता कर। तेरे लिए यह समय समाधि पूर्वक आत्म-चिंतन में लगने का है। बहन की चिंता करने का नहीं।'

मुनि खेतसीजी ने स्वामीजी का कथन शिरोधार्य किया। कुछ दिन पश्चात् वे रोग-मुक्त हो गए।

न्याय की तुला पर

स्वामीजी एक न्यायप्रिय एवं नीति-परायण आचार्य थे। व्यक्तियों का पारस्परिक मनोमालिन्य मिटाकर उनमें सद्भाव उत्पन्न करना उन्हें खूब आता था। पक्षपात सदैव न्याय और नीति का प्रतिपक्ष रहा है। स्वामीजी उसे कभी प्रश्रय नहीं देते थे। यद्यपि छद्मस्थावस्था के कारण मनुष्य राग और द्वेष से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाता है, फिर भी स्वामीजी जैसे कुछ ऐसे महान् व्यक्ति होते हैं, जो अपने मानसिक संतुलन को किसी भी स्थिति में डिगने नहीं देते। स्वामीजी तर्कों के आधार पर नहीं, वास्तविकता के आधार पर न्याय किया करते थे।

अपने संघ के साधु-साध्वियों के लिए तो उन्होंने मर्यादा बनाते समय यहां तक लिख दिया कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे चलने, बोलने तथा प्रतिलेखन करने आदि की दैनिक क्रियाओं में सच्ची तथा झूठी भी त्रुटि निकाले, तो तुम उसका प्रतिवाद मत करो। आगे के लिए उस विषय में अधिक सावधान रहने का ही विचार व्यक्त करो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रष्टा ऋषि : आचार्यश्री तुलसी

आनन्द और उल्लास से भरा हुआ वातावरण, प्रगति और उन्नति की आकांक्षाओं से परिपूरित जन-मानस, राष्ट्र-निर्माण के सत् संकल्प से आप्लावित नेतृ-वर्ग और स्वतंत्र राष्ट्र के अनुरूप हर क्षेत्र में आत्म-निर्भरता के लिए श्रम-सातत्य में उठे हुए जनता-जनार्दन के हाथ—यह बतला रहे थे कि स्वतंत्र होने के साथ ही उभर आई कठिनाइयों पर विजय पाकर भारत अब अपनी भावी योजनाओं के अनुकूल प्रगति करने को तैयार है। सचमुच ही उस समय कृषि-विकास से लेकर सामाजिक नव-निर्माण तक के प्रत्येक क्षेत्र में उच्चतर स्थिति को प्राप्त करने की ओर कदम बढ़ाये जा रहे थे। आशा और उत्साह से भरे ऐसे माहौल में एक तरुण व्यक्ति जनता और जन-नेताओं को चेता रहा था कि राष्ट्र-निर्माण के इस महायज्ञ में चरित्र-विकास को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। उसकी मान्यता थी कि चरित्र-विहीन राष्ट्र की सारी प्रगति राख में डाली गई आहुति के समान व्यर्थ हो जाती है। वह व्यक्ति था उस समय तक स्वल्प ज्ञात किन्तु चिन्तन और कार्य-क्षमता की तेजस्विता से परिपूर्ण आचार्यश्री तुलसी। उनकी उस विचार-धारा से सभी लोग सहमत तो होते, परन्तु उसे कार्य रूप में परिणति देने का अवकाश किसी के पास नहीं था। राष्ट्र का प्रायः समग्र कौशल और श्रम भौतिक समृद्धि की दौड़ में नियोजित हो रहा था।

असांप्रदायिक आंदोलन

आचार्यश्री तुलसी ने **'एग एव चरे लाढे'** अर्थात् 'अकेले-चलो' भगवान् महावीर के इस उपदेश को मार्ग-दीप बनाया और अपने साधन तथा क्षमता को तोलकर अकेले ही चल पड़े। उन्होंने २ मार्च १९४९ को अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया। सर्वधर्म समादृत छोटे-छोटे व्रतों के द्वारा उन्होंने मानव जाति के लिए सदाचार और नैतिकता की प्रेरणा दी। इस असाम्प्रदायिक आन्दोलन की आवाज जन-जन तक पहुंची और उससे लाखों लोग प्रभावित एवं लाभान्वित हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदयात्रा : जनकल्याण

अणुव्रत-कार्य को गति देने के लिए आचार्यश्री ने अपने विहार-क्षेत्र को विस्तृत किया। भारत के अधिकांश प्रान्तों में पदयात्रा करते हुए वे लगभग एक लाख किलोमीटर घूम चुके हैं। वर्तमान में सत्तर वर्ष की अवस्था में भी उनकी पदयात्रा यथावत् चालू है। वे जहां भी जाते हैं वहां हजारों-हजारों व्यक्ति उन्हें सुनने को एकत्रित हो जाते हैं। ग्रामीणों को वे मद्यपान, धूम्रपान आदि व्यसनों से तथा मृत्यु-भोज, पर्दाप्रथा आदि रूढ़ धारणाओं से मुक्त करते हैं। अपमिश्रण, रिश्वत और अस्पृश्यता-निवारण आदि के लिए उनका प्रयास गांवों और नगरों—दोनों में ही चलता है। अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत नये मोड़ के माध्यम से मेवाड़ जैसे रूढ़ि-ग्रस्त क्षेत्र में सामूहिक परिवर्तन का श्रेय आचार्यश्री के इस आन्दोलन को ही दिया जा सकता है।

नारी-जागरण

अपने आचार्य-काल के प्रारंभ से ही आचार्यश्री ने नारी-जाति के जागरण हेतु विशेष ध्यान दिया। साध्वियों के अध्ययन पर जहां उन्होंने काफी समय और श्रम लगाया वहां महिलाओं को भी रूढ़ि-मुक्त एवं सादगीपूर्ण जीवन जीने की ओर प्रेरित किया। इसमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिली।

साहित्यिक अवदान

आचार्यश्री तुलसी का साहित्यिक क्षेत्र का अवदान भी बहुत विशाल है। गद्य और पद्य—दोनों ही विधाओं में उनकी लेखनी से प्रचुर साहित्य का सर्जन हुआ है। उनके तत्त्वावधान में जैन आगमों का सम्पादन उनके उत्तराधिकारी युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ कर रहे हैं। आधुनिक और असाम्प्रदायिक दृष्टि से सम्पादित इन आगमों का विद्वानों ने हृदय से स्वागत किया है।

आचरण प्रधान धर्म का उद्घोष

आचार्यश्री ने धर्म को केवल क्रियाकांडों या केवल पूजा-विधानों के घेरे से बाहर निकालने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि धर्म जीवन-व्यवहार को बदल देने वाला तत्त्व है। वह आचरण-प्रधान है। वे बहुधा फल का उदाहरण देकर समझाया करते हैं कि क्रियाकांड तो फल के गूदे की सुरक्षा करने वाले छिलके की जगह है। गूदे के स्थान पर तो आचरण ही है। धर्म की वर्तमानिक निस्तेजस्कता में एक मुख्य कारण वे क्रियाकांडों की प्रमुखता हो जाने को मानते हैं। धर्म को तेजस्वी बनाने के लिए उन्होंने उसका अध्यात्म के साथ अनुबंधित होना अनिवार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना है। इसीलिए प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति का विकास किया गया है। युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ के निर्देशन में चलने वाले ध्यान-शिविरों ने अल्प समय में प्रबुद्ध व्यक्तियों को अतिशय प्रभावित किया है।

द्रष्टा : ऋषि

आचार्यश्री तुलसी समन्वय और सामंजस्य में विश्वास करते हैं। जैनों के विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों से उनका निकट सम्पर्क है। बहुधा वे ऐसे बिन्दु खोजते हैं जो समीपता उत्पन्न कर सकें। जैनेतर धर्मों के आचार्यों तथा विद्वानों से भी वे समन्वयात्मक चिन्तन करते रहते हैं। उनका विश्वास है कि हर धर्म प्रेम का मार्ग ही दिखा सकता है, झगड़े या क्लेश का नहीं।

आचार्यश्री का जन्म वि० सं० १९७१ कार्तिक शुक्ला २ को लाडनूं (राजस्थान) में हुआ। ग्यारह वर्ष की लघुवय में वे आचार्यश्री कालूगणी के पास दीक्षित हुए। बाईस वर्ष की अवस्था में आचार्य बने। आज वे अपने ७७वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। भारत के इस द्रष्टा ऋषि के चरणों में शत-शत वन्दन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यश्री तुलसी : कुशल अध्यापक

आचार्यश्री तुलसी अपने युग के सर्वाधिक चर्चित जैनाचार्य हैं। उनकी क्षमताएं असीम हैं। वे अपनी क्षमताओं का बहुत अच्छा उपयोग करना जानते हैं। इसलिए प्रत्येक क्षेत्र में सफलता उनकी बाट निहारती मिलती है। उन्होंने जितनी लम्बी पदयात्राएं की हैं, आध्यात्मिकता के क्षेत्र में जितना जनमानस को झकझोरा है तथा किसान से लेकर राष्ट्र के सर्वोच्च व्यक्तियों तक को जितना प्रभावित किया है, उतना किसी भी धर्म के अन्य किसी भी धर्माचार्य ने शायद ही किया हो। जीवन के आठवें दशक में भी वे इतने क्रियाशील हैं कि युवक भी उनकी बराबरी नहीं कर सकते। इतने कार्य-क्षेत्रों की जमीन उन्होंने तोड़ी है कि देखकर आश्चर्य होता है। केवल जमीन तोड़ने तक की ही बात नहीं है। उन्होंने उन सबको जोता है, बोया है और उनसे भरपूर फसलें प्राप्त की हैं।

अविश्रान्त यात्री

आज आचार्यश्री तुलसी एक युगप्रधान आचार्य हैं, तेरापंथ के नवम अधिशास्ता हैं, अणुव्रतों के माध्यम से जनजीवन को नैतिकता के सूत्रदाता हैं, समाज को रूढ़िमुक्त बनाने के लिए नये मोड़ के मंत्रदाता हैं, आगम शोध कार्य के वाचना प्रमुख हैं, प्रेक्षाध्यान पद्धति के प्रेरक एवं उद्‌बोधक हैं, धर्मसंघ की चतुर्मुखी प्रगति के लिए निरन्तर सावधान मार्गदर्शक हैं, लगभग सात सौ साधु-साध्वियों की साधना की व्यवस्था, संरक्षा और विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व वहन करते हैं, श्रावक-श्राविका वर्ग की प्रत्येक आध्यात्मिक समस्या के समाधान का भार भी उन्हीं के कंधों पर है। अनेक लोगों की व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने में भी उन्हें अपना समय और श्रम लगाना पड़ता है। प्रतिदिन प्रातःकालीन धर्म सभा में लगभग घण्टाभर व्याख्यान देते हैं। कभी-कभी एक ही दिन में दो या तीन बार भी व्याख्यान देने होते हैं। वे आजीवन पदयात्री हैं। पूरे भारतवर्ष को उन्होंने अपनी पदयात्राओं से मापा है। आज भी उनकी पदयात्रा चालू है। उसी प्रकार से उनकी लेखनी भी अविश्रान्त चलती रही है। संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी भाषा में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने गद्य तथा पद्यमय दर्जनों ग्रंथ लिखे हैं। इन सब कार्यों को चिन्तन में लेकर हम उनकी व्यस्तता का अनुमान लगा सकते हैं। इतना होने पर भी जब उन्हें शैक्ष साधु-साध्वियों को अध्यापन कराते देखते हैं तो सहज ही मन में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य उनके चारों ओर हैं तब वे इस साधारण कार्य में अपना समय क्यों लगाते हैं ? इसका उत्तर खोजने लगता हूं तब महात्मा गांधी के जीवन की एक घटना मेरे स्मृति-पटल पर उभर आती है।

सर्वोदय ला रहा हूं

गांधीजी एक बार किसी प्रौढ़ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम में देश के अनेक उच्चकोटि के नेता आये हुए थे। उन्हें गांधीजी से देश की विभिन्न समस्याओं पर विमर्श करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बड़ी व्याकुलता लिये वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कंठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भांति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे।

एक परिचित विदेशी ने झुंझलाकर गांधीजी से कहा—"बहुत लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारों ओर ढेर लगा है। ऐसे समय में यह आप क्या कर रहे हैं ?" गांधीजी ने स्मित-भाव से उत्तर देते हुए कहा—"मैं सर्वोदय ला रहा हूं।"

ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी है। वे विद्या को विकास का बीजमंत्र मानते हैं। इसीलिए अनेक कार्यों की व्यस्तता में भी वे उस बीज को सींचना कभी नहीं भूलते।

इस प्रश्न का एक दूसरा समाधान भी है। आचार्यश्री जब साधना क्षेत्र में प्रविष्ट हुए और छात्र रूप में अपने अध्ययन में व्यस्त रहने लगे, तभी आचार्यश्री कालूगणी ने उनको हम बाल मुनियों के अध्यापन का कार्य भी सौंप दिया। अपने गुरु द्वारा सौंपे गये उस कार्य को आज की भरपूर व्यस्तताओं में भी वे यथावत् चला रहे हैं। स्वीकृत उत्तरदायित्व को इस सीमा तक निभाने वाले वे अद्वितीय व्यक्ति कहे जा सकते हैं।

अध्यापन-कौशल

आचार्यश्री को अध्यापन कार्य में एक सहज कुशलता प्राप्त है। बहुत से व्यक्ति उस कुशलता को श्रमपूर्वक अर्जित करते हैं, परन्तु उनमें वह संस्कारजन्य है। अध्ययन-कार्य से अध्यापन-कार्य कहीं अधिक कठिन होता है। अध्ययन करने में स्वयं के लिए स्वयं को खपाना होता है, जबकि अध्यापन में पर के लिए अपने को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खपाना पड़ता है। अपने ज्ञान तथा व्याख्या-सामर्थ्य को भी विद्यार्थियों की ग्रहण-क्षमता के अनुरूप बनाकर प्रस्तुत करना पड़ता है। उसके लिए उन्हें अपने में रबड़ जैसी संक्षेप-विस्तार की योग्यता विकसित करनी होती है। अन्यथा ज्ञान-सागर होकर भी वे विद्यार्थियों के लिए सूखी तलैया बनकर रह जाते हैं। आचार्यश्री में यह कौशल भरपूर है। वे न किसी छात्र को अजीर्ण हो जाने जितनी अधिक मात्रा देते हैं और न भूखों मर जाने जितनी कम। एक कुशल गृहिणी की तरह वे प्रत्येक की भूख और जीर्ण शक्ति को अच्छी तरह से आंकना जानते हैं।

अनुशासन क्षमता

छात्र-वर्ग को आत्मीयता की डोर में बांधे रखना उनके अध्यापन-कौशल का एक प्रमुख सूत्र रहा है। इसी आत्मीयता के बल पर वे अपने छात्र-वर्ग पर अनुशासन कायम रखा करते हैं। अनुशासन करना एक बात है और उसे करना जानना दूसरी। छात्रों पर अनुशासन करना तो कठिन है ही, पर करना जानना उससे भी कठिन। वह एक कला है, हर कोई उसे नहीं जान सकता। विद्यार्थी अवस्था से बालक होता है स्वभाव से चुलबुला तो प्रकृति से स्वच्छन्द। अन्य-अन्य जीवन-व्यवहारों के समान अनुशासन भी उसे सिखाना ही होता है। जो बात सीखने से आती है, उसमें बहुधा स्खलनाएं भी होती हैं। स्खलनाओं को असह्य बनाने वाले अध्यापक छात्रों में अनुशासन के प्रति श्रद्धा नहीं, अश्रद्धा ही उत्पन्न करते हैं। अनुशासन का भाव छात्र में उत्पन्न न हो जाए तब तक अनुशासन को अधिक उदार, सावधान और सहानुभूतियुक्त रहना आवश्यक होता है। आचार्यश्री की अध्यापन-कुशलता इसीलिए प्रसिद्ध नहीं है कि उनके पास अनेक छात्र पढ़ा करते थे, किन्तु इसलिए है कि वे अनुशासन करना जानते थे। विद्यार्थियों को कब कहना और कब सहना, उसकी सीमा उनको ज्ञात थी।

दूसरों को अनुशासन सिखाने वाले को अपने पर कहीं अधिक अनुशासन करना होता है। छात्रों के अनेक कार्यों को बाल-विलसित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भंग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया छात्रों पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक की अनुशासन-क्षमता छात्रों पर पड़ने वाले रौब से कहीं अधिक, उसके द्वारा अपने आप पर किये जाने वाले संयम और नियंत्रण से मापी जाती है। आचार्यश्री का प्रारम्भ से ही अपने आप पर गजब का नियंत्रण था। वे शैक्ष साधुओं के सम्मुख किसी व्यक्ति से न विशेष बात करते और न कभी हंसते ही। अध्ययन करना और अध्ययन करवाना, मानो ये दो काम ही उनकी पांती में आये हुए थे।

आचार्यश्री प्रारम्भ से ही कठोरता और मृदुता के एक अद्भुत मिश्रण रहे हैं। उन्हीं के समान उनका अनुशासन भी इन्हीं दोनों तत्त्वों के समानुपातिक मिश्रण से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्भूत रहा है, जो श्रीफल की तरह ऊपर से शुष्क या कठोर लगता है परन्तु भीतर से मधुर और शक्तिदायक गिरी लिये हुए होता है। वे अपने छात्रों को कभी विशेष उपालम्भ नहीं दिया करते थे। डांट-डपट करते रहने में भी उन्हें कोई विश्वास नहीं था, फिर भी न जाने कौन-सा गुरुत्वाकर्षण था कि कोई भी शैक्ष उनके नियंत्रण से बाहर नहीं जा सकता था। चर्या से लेकर अध्ययन तक का प्रत्येक कार्य उनकी अनुज्ञा से ही होता था। वे अपने विद्यार्थी साधुओं के खान-पान, सोने-बैठने से लेकर छोटे से छोटे कार्य को भी सुव्यवस्थित रखने की चिन्ता रखते थे। विद्यार्थी साधु भी उन्हें केवल अपना अध्यापक ही नहीं, किन्तु संरक्षक, माता-पिता तथा सब कुछ मानते थे। शैक्ष साधुओं को कहीं इधर-उधर न भटकने देना, एक के पश्चात् एक काम में उनका मन लगाये रखना, अपनी संयत-वृत्तियों के प्रत्यक्ष उदाहरण से उनकी वृत्तियों को संयतता की ओर प्रेरित करते रहना, इन सबको वे अध्ययन-कार्य का ही अंग मानते रहे हैं।

अपना ही काम है

आचार्यश्री ने अध्यापन कार्य को परोपकार की दृष्टि से नहीं, किन्तु कर्त्तव्य की दृष्टि से किया है। जब वे स्वयं छात्र थे और निरन्तर अध्ययनरत रहा करते थे, तब भी अपने अध्ययन-कार्य में जैसी उनकी तत्परता थी, वैसी ही शैक्ष साधुओं के अध्यापन-कार्य में भी थी। उस कार्य को भी वे सदा अपना ही कार्य समझकर किया करते थे। दूसरों को अपनाने की और दूसरों को अपना स्वत्व सौंपने की उनमें भारी क्षमता थी। इसीलिए दूसरे भी उनको अपना मानते और निश्चिन्त भाव से अपना स्वत्व सौंप दिया करते थे। साधु समुदाय में विद्या का अधिक से अधिक प्रसार हो, यह आचार्यश्री कालूगणी का दृष्टिकोण था। उसी को अपना ध्येय बनाकर वे चलने लगे। मुनिश्री चम्पालालजी (भाईजी महाराज) कई बार उनको टोकते हुए कहते—"तू दूसरों-ही-दूसरों पर इतना समय लगाता है, अपनी भी कोई चिन्ता है तुझे ?"

इसके उत्तर में वे कहते—"दूसरे कौन ? यह भी तो अपना ही काम है।" उस समय के इस उदारतापूर्ण उत्तर के प्रकाश में जब हम वर्तमान को देखते हैं तो लगता है कि सचमुच वे उस समय अपना ही काम कर रहे थे। उस समय जिस प्रगति की नींव उन्होंने डाली थी, वही तो आज प्रतिफलित होकर सामने आ रही है। समस्त संघ की सामूहिक प्रगति आज आचार्यश्री की व्यक्तिगत प्रगति बन गयी है।

कोमल भी, कठोर भी

जिन विद्यार्थियों को उनके सान्निध्य में रहकर विद्यार्जन का सौभाग्य प्राप्त हुआ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था, उनमें से एक मैं भी हूं। हम छात्रों में उनके प्रति जितना स्नेह था उतना ही भय भी था। वे हमारे लिए जितने कोमल थे, उतने ही कठोर भी। जिस विद्यार्थी में अपने अध्यापक के प्रति भय न होकर कोरा स्नेह ही होता है, वह अनुशासनहीन बन जाता है। इसी तरह जिसमें स्नेह न होकर कोरा भय ही होता है, वह श्रद्धाहीन बन जाता है। सफलता उन दोनों के सम्मिलन में है। हम लोगों में उनके प्रति स्नेह से उद्भूत भय था। हमारे लिए उनकी कमान जैसी तनी हुई वक्रीभूत भौंहों का भय कितना सुरक्षा का हेतु था, यह उन दिनों जितना नहीं समझते थे, उतना आज समझ रहे हैं।

उत्साह-दान

विद्यार्थियों का अध्ययन में उत्साह बनाये रखना भी अध्यापक की एक कुशलता होती है। एक शैक्ष के लिए उचित अवसर पर दिया गया उत्साह-दान जीवन-दान के समान ही मूल्यवान् होता है। अपनी अध्यापक अवस्था में आचार्यश्री ने अनेक में उत्साह जागृत किया तथा अनेक के उत्साह को बढ़ाया था। मैं इसके लिए अपनी ही बाल्यावस्था का एक उदाहरण देना चाहूंगा। जब हमने 'अभिधान चिन्तामणि कोश' (नाममाला) कण्ठस्थ करना प्रारम्भ किया, तब कुछ दिन तक दो श्लोक कण्ठस्थ करना भी भारी लगता था। मूल बात यह थी कि संस्कृत के कठिन उच्चारण और नीरस पदों ने हमको उबा दिया था। उन्होंने हमारी अन्यमनस्कता को तत्काल भांप लिया और आगे से प्रतिदिन आध घण्टा हमें अपने साथ उसके श्लोक रटाने लगे, साथ ही अर्थ बताने लगे। उसका प्रभाव यह हुआ कि हमारे लिए कठिन पड़ने वाले उच्चारण सहज हो गये, नीरसता मे कमी लगने लगी। थोड़े दिनों पश्चात् हम उसी कोश के छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गये। मैं मानता हूं कि यह उनकी कुशलता से ही सम्भव हो सका अन्यथा हम उस अध्ययन को कभी का छोड़ चुके होते।

जो अध्यापक अपने विद्यार्थियों की दुविधा को समझता है और उसे दूर करने का मार्ग खोजता है वह अवश्य ही अपने शिष्यों की श्रद्धा का पात्र बनता है। उनकी प्रियता के जहां और अनेक कारण थे, वहां यह सबसे अधिक बड़ा कारण था। आज भी उनकी प्रकृति में यह बात देखी जा सकती है। विद्यार्थियों की अध्ययन-गत असुविधाओं को मिटाने में आज भी वे उतना ही रस लेते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि उस समय उनका कार्य-क्षेत्र कुछ छात्रों तक ही सीमित था, पर आज वह समूचे संघ में व्याप्त हो गया है।

साध्वी समाज में विद्या-विकास

आचार्यश्री ने अपने मुनिकाल में अध्यापन कार्य किया, यह कोई आश्चर्य की बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं थी, परन्तु उन्होंने आचार्य बनने के पश्चात् भी उस कार्य को चालू रखा। साध्वी-समाज में विद्या का विकास उन्होंने आचार्य बनने के पश्चात् ही किया। अपने आचार्य पद की प्रारम्भ कालीन कठिनाइयों से जूझते हुए भी उन्होंने साध्वियों को पूरा समय दिया और अध्ययन में यथासम्भव नैरंतर्य बनाये रखा। उसी का यह फल है कि साधुओं के समान ही आज तेरापंथ का साध्वी-समाज भी प्रत्येक विषय में सुदक्ष और कार्यक्षम है।

पाठ्यक्रम का निर्धारण

अनेक वर्षों के अध्यापन-कार्य ने आचार्यश्री को यह अनुभव कराया कि अध्ययन क्षेत्र में एक व्यवस्थित क्रमिकता की आवश्यकता है। उसके अभाव में साधारण बुद्धि वाले अनेक विद्यार्थियों का श्रम निष्फल जा रहा था। सम्पूर्ण चंद्रिका अथवा कालूकौमुदी कण्ठस्थ कर लेने तथा उसकी साधनिका कर लेने पर भी उनका विकास नहीं हो पाया था। विद्यार्थियों का श्रम निष्फल न जाए तथा उनके प्रशिक्षण में त्वरता आये इसलिए एक पाठ्य प्रणाली निर्धारित की गयी। उसका नाम दिया गया—'आध्यात्मिक शिक्षाक्रम।' सात वर्षों के इस शिक्षाक्रम के तीन विभाग हैं—योग्य, योग्यतर और योग्यतम। अनेक विषयों में निष्णात बनने के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए यह क्रम बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। कालान्तर में इस पाठ्यक्रम में अनेक आवश्यक परिवर्तन भी किये जाते रहे हैं।

श्रेयोभागी

आचार्यश्री ने हम लोगों को पढ़ाना प्रारम्भ किया था, तब वे स्वयं अध्ययनरत छात्र थे। लगभग १८-१९ वर्ष की उनकी अवस्था थी। आज वे अपनी अवस्था के सतत्तर वसंत देख चुके हैं। एक विश्व-विश्रुत धर्माचार्य बन चुके हैं। अनेक उत्तरदायित्वों से घिरे हुए हैं। प्रत्येक क्षण को निचोड़कर काम में लेते रहने पर भी समय की कमी अनुभव करते रहते हैं। इस स्थिति में भी उनका अध्यापक आज भी पूर्ववत् जागरूक है। विभिन्न कार्यों के बीच से आज भी वे समय निकालते और बाल साधुओं तथा साध्वियों को विभिन्न विषयों का प्रशिक्षण देते देखे जा सकते हैं।

वे जब पढ़ाते हैं तो अध्यापन-रस में सराबोर होकर पढ़ाते हैं। मूल पाठ को तो वे पूर्णतः स्पष्ट करते ही हैं, साथ ही अनेक शिक्षात्मक बातें भी इसी प्रकार से जोड़ देते हैं कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता में बदल जाती है। नव-शिक्षार्थियों को शब्द-रूप और धातु रूप पढ़ाते समय वे जितनी प्रसन्न मुद्रा में देखे जा सकते हैं, उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रंथ के पाठन में भी देखे जा सकते हैं। सामान्यतः उनकी वह प्रसन्नता ग्रंथ की साधारणता या असाधारणता को लेकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होती, अपितु इसलिए होती है कि वे किसी के विकास में सहयोग दे रहे हैं।

तेरापंथ का साधु-साध्वी वर्ग आज कार्यक्षम, जागरूक तथा युगभावना को समझने तथा आवश्यकता होने पर उसे नया मोड़ देने का सामर्थ्य रखने वाला है, उसकी उस क्षमता के उपार्जन का श्रेयोभाग एकमात्र आचार्यश्री को ही जाता है। इसलिए एक अध्यापक के रूप में आचार्यश्री के जीवन का यह एक अपूर्व कौशल कहा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस समय के मुनि नथमल : आज के युवाचार्य महाप्रज्ञ

संस्मरणों की यात्रा

युवाचार्य महाप्रज्ञ तेरापंथ धर्मसंघ के भावी आचार्य हैं। वे महाप्राण युग प्रधान आचार्यश्री तुलसी के द्वारा नियुक्त उनके उत्तराधिकारी हैं। इस नियुक्ति के अभिनन्दन में 'तुलसी प्रज्ञा' अपना विशेषांक निकाल रही है। मैं युवाचार्य का समवयस्क हूं, इससे भी अधिक मैं उनका बाल-साथी एवं सहपाठी रहा हूं, अतः उनसे सम्बन्धित कुछ संस्मरण लिखने के लिए मुझे कहा गया है। पिछले अड़तालीस वर्षों के निकट सम्पर्क के प्रकाश में जब मैं अपने जीवन के उतार-चढ़ावों की ओर दृष्टिपात करता हूं तब पाता हूं कि मस्तिष्क में खट्टे-मीठे संस्मरणों की एक भीड़ धक्का-मुक्की करती हुई प्रवेश कर रही है। मैं उन सबको इस समय अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर सकूं—यह संभव नहीं है, परन्तु कुछ को सम्मुख लाना आवश्यक भी प्रतीत होता है। तो लीजिए, ये उपस्थित हैं हमारी बाल्यावस्था के कुछ नन्हें-मुन्ने संस्मरण, इनसे मिलिये। परन्तु एक बात का ध्यान रखिये, इनकी यात्रा मेरे बालसखा मुनि नथमल के परिपार्श्व से प्रारम्भ होती है और युवाचार्य महाप्रज्ञ तक पहुंचती है, फिर भी मंजिल और आगे है, यात्रा चालू है।

बालसखा

हम दोनों जन्मना ढूंढाड़ (तत्कालीन जयपुर राज्य) के हैं। मुनि नथमलजी का जन्म टमकोर (विष्णुगढ़) में और मेरा पिलानी के समीपस्थ ग्राम लीखवा में हुआ। मेरा लालन-पालन एवं प्रारंभिक शिक्षा ननिहाल में हुई, अतः मैं सादुलपुर में ही रहा और वहीं का हो गया। मेरा जन्म सं० १९७७ आषाढ़ कृष्णा ३ का है और युवाचार्यजी का आषाढ़ कृष्णा १३ का। उन्होंने तेरापंथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी से सं० १९८७ के माघ में दीक्षा ग्रहण की और मैंने १९८८ के कार्तिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में। प्रशिक्षण के लिए हम दोनों मुनि तुलसी (आचार्य तुलसी) को सौंपे गये। समवयस्कता के साथ-साथ तभी से हम दोनों साथी और सहपाठी बन गये। यद्यपि उस समय अन्य भी अनेक बाल-साधु थे, परन्तु हम दोनों की पटरी कुछ ऐसी बैठी कि प्रायः हर क्रिया और प्रतिक्रिया में हम एक साथ रहते। हमारे नाम भी प्रायः सभी के मुख पर समस्तपद की तरह एक साथ रहते थे। पूज्य कालूगणी हमें 'नत्थू-बुद्धू' कहकर पुकारते थे और हमारे अध्यापक मुनि तुलसी 'नथमलजी-बुद्धमलजी' कहा करते थे।

हंसने का दण्ड

बाल-चापल्य के कारण हम दोनों हंसा बहुत करते थे। सकारण तो कोई भी हंस लेता है, पर हम अकारण भी हंसते थे। पाठ याद करते समय हम दोनों को कमरे के दो कोनों में भींत की ओर मुंह करके बिठाया जाता था, फिर भी झुक-झुक कर हम एक-दूसरे की ओर देखते और हंसते। छोटी-मोटी कोई भी घटना या स्थिति हमारे हंसने का कारण बन जाती थी। हम अभिधान चिंतामणि कोष कंठस्थ कर रहे थे। मुनि तुलसी के पास वाचन करते समय जब 'पेढालः पोट्टिलश्चापि' जैसे विचित्र उच्चारण वाले नाम हमारे सामने आये तो हम दोनों अपनी हंसी रोक नहीं पाये। कठोर अनुशासन पसंद करने वाले हमारे अध्यापक मुनि तुलसी ने उस उद्दंडता के लिए कई दिनों तक हमारा शिक्षण बंद रखा। इसी प्रकार मेवाड़ से आये एक व्यक्ति की फटी-फटी-सी बोली सुनकर भी हम अपनी हंसी नहीं रोक सके और दंड स्वरूप कई दिनों तक शिक्षण बंद रहा।

बच गए

तारानगर की बात है। मैं पानी पीने के लिए गया। उसी समय मुनि नथमलजी भी वहां पहुंच गये। वे मुझे हंसाने का प्रयास करने लगे। बहुत देर तक उन्होंने मुझे पानी नहीं पीने दिया। आखिर झल्लाकर मैंने उनको धमकी दी कि मुनि तुलसी के पास मैं आपकी शिकायत कर दूंगा। तब वे रुके और मैं पानी पी सका। उस समय हम दोनों को यह पता नहीं था कि पास के कमरे से महामना मगनलालजी स्वामी हमारी कारस्तानी देख रहे हैं। सायंकालीन भोजन परोसते समय मंत्री मुनि ने कालूगणी के सम्मुख ही हमसे पूछा कि आज मध्याह्न में पानी पीते समय तुम दोनों क्या कर रहे थे? हमारी तो भय के मारे मानों घिग्घी ही बंध गई। मंत्री मुनि ने हंसते हुए हमारी नोक-झोंक कालूगणी को सुनाई और कहा—दोनों ही बहुत चंचल हैं। आचार्यश्री ने अर्थभरी दृष्टि से हमारी ओर देखा और मुस्करा दिये। हम दोनों तब आश्वस्त हो गये कि बच गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़ा बनना है या छोटा

लगता है आचार्यवर ने हमारे हंसने के उस स्वभाव को बदलने के लिए मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया। एक दिन दोनों उपपात में बैठे थे तब उन्होंने फरमाया—आओ एक सोरठा याद करो। उन्होंने सिखाया—

हंसिये ना हुंसियार, हंसिया हलकाई हुवै।
हंसिया दोष हजार, गुण जावै गहलो गिणै॥

इसी प्रकार एक-दूसरे अवसर पर उन्होंने हमें यह श्लोक कंठस्थ कराया—

बाल सखित्वमकारण हास्यं,
स्त्रीषुविवादमसज्जनसेवा।
गर्दभयानमसंस्कृतवाणी,
षट्सु नरो लघुतामुपयाति॥

आचार्यश्री ने हमें शिक्षा देते हुए कहा—"बच्चों के साथ मित्रता, अकारण हास्य, स्त्रियों के साथ विवाद, दुर्जन की संगति, गधे की सवारी और अशुद्ध वाणी—इन छह बातों से मनुष्य छोटा बन जाता है।" शिक्षा के बीच में ही आचार्यश्री ने हमसे प्रश्न किया—"तुम लोग बड़ा बनना चाहते हो या छोटा!" हम दोनों ने एक साथ उत्तर दिया—'बड़ा'। आचार्यश्री ने तब हमारी ओर एक विचित्र दृष्टि से देखते हुए कहा—"बड़ा बनना चाहते हो तो इन बातों से बचना चाहिए।" सहज भाव से दी गई उक्त शिक्षा हमारे अन्तरंग में उतरती गई और हम शीघ्र ही अकारण हास्य के उस स्वभाव से मुक्त हो गये।

पारस्परिक स्पर्धा

गहरी मित्रता के साथ-साथ हम दोनों में स्पर्धा भी चलती रहती थी। खड़िया से पट्टी कौन पहले लिखता है, श्लोक कौन शीघ्र याद करता है, आचार्यश्री की सेवा में कौन पहले पहुंचता है, मुनि तुलसी का कथन कौन पहले कार्यान्वित करता है—ये हमारी स्पर्धा के विषय हुआ करते थे। कभी-कभी अन्य विषयों में भी स्पर्धा हो जाया करती थी। सं० १९८९ में एक बार श्री डूंगरगढ़ में कालूगणी की सेवा में मुनि नथमलजी बैठे थे। आचार्यश्री ने अपने 'पुट्ठे' से भर्तृहरि का नीतिशतक निकाल कर उन्हें दिया। उन्होंने आकर मुझे दिखाया तो मैंने भी गुरुदेव से उसकी मांग की। एक बार तो उन्होंने फरमाया कि 'पुट्ठे' में एक ही प्रति थी, वह दे दी गई, अब तुम्हारे लिए कहां से आये! इस पर भी मैंने अपनी मांग को दुहराया तब मुनि चौथमलजी के 'पुट्ठे' से एक-दूसरी प्रति निकलवाकर उसी समय मुझे दी गई।

सं० १९९० में बीदासर में आचार्यश्री का प्रवास था। मैं अकेला आचार्यश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सेवा में था। आचार्यश्री ने अपने 'पुठ्ठे' से एक कवितापत्र निकाला और मुझे दिया। मैंने मुनि नथमलजी को वह दिखलाया तो उन्होंने भी उसकी मांग की। दूसरा पत्र उपलब्ध नहीं था, अतः नया लिखवाकर उन्हें दिया गया।

सं० १९८९ के सरदारशहर चतुर्मास में दीक्षाएं हुईं तब जो वस्त्र आया, उसमें से एक कंबल को अलग रखते हुए आचार्यश्री ने कहा—"यह नत्थू-बुद्धू को देना है।" किसी मुनि के द्वारा हमें उक्त सूचना तो मिली ही, साथ ही यह भी पता चला कि उस कंबल के एक भाग में कुछ काले धब्बे हैं। मध्याह्नकालीन भोजन के पश्चात् कालूगणी ने कंबल के दो टुकड़े किए और हमें देने लगे तब हम दोनों ने ही बिना धब्बे वाले टुकड़े की मांग की। आचार्यश्री ने हमें समझाने का प्रयास किया कि धोने पर ये धब्बे मिट जायेंगे, परन्तु धब्बे वाला भाग लेने के लिए हम दोनों में से कोई भी उद्यत नहीं था। आखिर आचार्यश्री ने दोनों भागों को अपनी गोद में दबाया और वस्त्र से ढक दिया। केवल दो छोर ऊपर रखकर हमसे कहा कि एक-एक छोर पकड़ लो। हम दोनों ठिठके तो सही, परन्तु फिर एक-एक छोर पकड़ लिया। धब्बों वाला भाग मुनि नथमलजी को मिला। वे थोड़े उदास हुए, परन्तु जब दोनों भाग घुलकर पुनः हमारे पास आये तब हम पहचान ही नहीं पाये कि धब्बों वाला भाग कौन-सा था!

मुनि तुलसी अर्थ करते

सं० १९८९ में हम दोनों अभिधान चिंतामणि कोश कंठस्थ कर रहे थे। आचार्यश्री ने फरमाया—मध्याह्न में प्रतिदिन एक श्लोक सिंदूर प्रकर (सूक्ति मुक्तावलि) का भी याद किया करो। हम वैसा ही करने लगे। कुछ श्लोक कंठस्थ हो जाने के पश्चात् हमें आदेश हुआ कि सायं प्रतिक्रमण के पश्चात् तुम दोनों श्लोकों का गान किया करो और तुलसी अर्थ किया करेगा। बाल्यावस्था के कारण उस समय हमारा स्वर महीन और मधुर था। आचार्यश्री के सम्मुख खड़े होकर हम दोनों उपस्थित जन-समूह में प्रतिदिन चार श्लोकों का गान करते और हमारे अध्यापक मुनि तुलसी उनका अर्थ किया करते।

एक शिकायत

मुनि तुलसी हमें काफी कड़े अनुशासन में रखते थे। इधर-उधर घूमने की छूट तो देते ही नहीं थे, परस्पर बात भी नहीं करने देते थे। हम दोनों ने कालूगणी के पास शिकायत करने का निर्णय किया। रात्रि में जब आचार्यश्री सोने की तैयारी कर रहे थे तब हम गये और पास जाकर वन्दन किया। आचार्यश्री ने दोनों के सिर पर हाथ रखते हुए पूछा—"बोलो, क्यों आये हो?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम दोनों ने कुछ सकुचाते और कुछ साहस करते हुए कहा—"तुलसीरामजी स्वामी हमें बात भी नहीं करने देते, बहुत कड़ाई करते हैं।"

आचार्यश्री ने पूछा—"यह सब वह तुम्हारी पढ़ाई के लिए ही करता है या अन्य किसी कारण से !"

हमने कहा—"करते तो पढ़ाई के लिए ही हैं।"

आचार्यश्री ने फरमाया—"तब फिर क्या शिकायत रह जाती है ! इस विषय में जो वह चाहेगा वैसा ही करेगा। तुम्हारी बात नहीं चलेगी।"

हम दोनों अवाक् थे। न कुछ कह पाये और न उठकर ही जा पाये। आचार्यश्री ने हमें एक कहानी सुनाते हुए कहा—"राजा का पुत्र गुरुकुल में पढ़ा करता था। अन्य छात्र भी वहां पढ़ते थे। कई वर्षों के पश्चात् पढ़ाई सम्पूर्ण हुई तब आचार्य राजकुमार को राजा के पास ले गये। मार्ग में राजधानी के बाजार में उन्होंने कुछ गेहूं खरीदे और गठरी राजकुमार के सिर पर रख दी। कुछ दूर तक ले चलने के पश्चात् वह गठरी उतरवा दी गई। वे सब राजसभा में पहुंचे। राजा ने आचार्य से पूछा—'राजकुमार का व्यवहार कैसा रहा !' आचार्य ने कहा—'बहुत अच्छा, बहुत विनययुक्त।' राजा ने राजकुमार से भी पूछा—'आचार्यजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया !' सकुचाते हुए राजकुमार ने कहा—'इतने वर्षों तक तो बहुत अच्छा व्यवहार किया परन्तु आज का व्यवहार उससे भिन्न था। आज बाजार में इन्होंने मुझसे भार उठवाया।' राजा ने खिन्न होकर आचार्य से इसका कारण पूछा। आचार्य ने कहा—'यह भी एक पाठ ही था। भावी राजा को यह ज्ञात होना चाहिए कि गरीब का श्रम कितना मूल्यवान् होता है।'

आचार्यश्री ने कहानी का उपसंहार करते हुए कहा—"अध्यापक तो राजा के पुत्र से भी भार उठवा लेता है, तो फिर तुम्हारी शिकायत कैसे मानी जा सकती है ! तुलसी ने तो तुम्हें बात करने से ही रोका है। जाओ, मन लगाकर पढ़ा करो और वह कहे वैसे ही किया करो।"

हम आशा लेकर गये थे, परन्तु निराशा पाकर लौट आये। दूसरे दिन मुनि तुलसी के पास पढ़ने के लिए गये तो मन में उथल-पुथल मची हुई थी कि कहीं हमारी शिकायत का पता लग गया तो क्या होगा।

अर्थदान

मोमसार की बात है आचार्यश्री कालूगणी ने हम दोनों को एक दोहा कंठस्थ कराया—

हर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी में सार।
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार॥

आचार्यश्री ने उसका अर्थ भी हमें समझाया। उस समय की समझ के अनुसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमने उसे पूरा समझ लिया। कुछ समय पश्चात् जब थोड़ा-सा मिल-बैठने का समय मिला तब हमने उस दोहे को फिर से स्मरण किया। उसके अर्थ पर भी ध्यान दिया। हमने समझा था कि भगवान्, गुरु, जनता और अपनी क्रियाओं का भय रखना जितना आवश्यक है उतना ही मुनि तुलसी से डरना भी आवश्यक है। इस कार्य में असावधान व्यक्ति मार खा जाता है। हमारी बाल सुलभ कल्पना में उक्त 'तुलसी' नाम किसी कवि का न होकर हमारे अध्यापक मुनि तुलसी का ही था। हम समझे थे कि आचार्यश्री कालूगणी हमें बतलाना चाहते हैं कि तुलसी से डरते रहना ही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है। हमारा वह अर्थदान दोहे के परिप्रेक्ष में चाहे जैसा रहा हो, परन्तु परिपूर्ण आचरणीय होकर हमारे लिए तो वह नितान्त गुणदायक ही रहा।

प्रारम्भिक कठिनाइयां

मुनि तुलसी के पास हमारा अध्ययन नियमित और सुचारु चलता था। उस समय तक संघ में शिक्षण की कोई निश्चित पद्धति या परम्परा नहीं थी। कंठस्थ कर लेना ही अध्ययन का प्रमुख अंग था। उससे आगे बढ़ने पर व्याकरण की साधनिका कर ली जाती थी। शब्द सिद्धि के ज्ञान पर इतना बल रहता कि शब्द-प्रयोग की दिशा प्रायः अस्पष्ट ही रह जाती। हमने अभिधान चिंतामणि शब्द कोश कंठस्थ कर लेने के पश्चात् समग्र कालुकौमुदी कंठस्थ की और उसकी साधनिका की। कालुकौमुदी का शिक्षण हमारे लिए बड़ा कठिनाइयों से भरा रहा। कारण यह था कि उसके निर्माण और हमारे शिक्षण की सम्पन्नता प्रायः साथ ही हुई। इसलिए निर्माण-काल की कांट-छांट का झंझट सदा हमारे शिक्षण को अस्त-व्यस्त करता रहा। आये दिन हमें कंठस्थ किए हुए पाठ छोड़ देने पड़ते और उनके स्थान पर नये पाठ कंठस्थ करने पड़ते।

आज यह बात शायद आश्चर्यजनक ही प्रतीत होगी कि हमने न कभी शब्द रूपावलि सीखी और न धातु रूपावलि, यहां तक कि वाक्य बनाने का अभ्यास भी नहीं किया। शब्द-प्रयोग के लिए हमने सर्व प्रथम संस्कृत के पद्य-निर्माण में प्रवेश किया। संस्कृत में भाषण तथा गद्य-लेखन का अभ्यास तो उसके बाद ही किया गया।

विषय बदले

बाल्यावस्था से किशोरावस्था में पहुंचने पर हमारी स्पर्धा के विषय बदल गये। सं० १९९१ के जोधपुर चातुर्मास में हमने राजस्थानी भाषा में प्रथम काव्य-रचना की। १९९४ के बीकानेर चातुर्मास में संस्कृत भाषा में प्रथम काव्य-रचना की। उसके पश्चात् क्रमशः संस्कृत-भाषण, गद्य लेखन और आशुकविता आदि अनेक विकास-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमों की ओर हमारे कदम बढ़ते रहे। हम परस्पर एक-दूसरे की रचना को देखते और उसके गुण-दोषों पर चर्चा करते। इन विषयों की स्पर्धा ने हमें बहुत त्वरता से आगे बढ़ाया। शीघ्र ही हम शैक्ष मुनियों को व्याकरण, काव्य और दर्शन शास्त्र आदि अनेक विषयों का प्रशिक्षण देने का कार्य भी करने लगे।

परिहास के क्षणों में

समय-समय पर हम दोनों में परिहास भी चलता रहता था। एक बार मुनि नथमलजी ने किसी विषय पर मुझे कोई सुझाव दिया। मैंने उसे अस्वीकार करते हुए उनका मजाक उड़ाया कि मैं आपसे आयु में दस दिन बड़ा हूं, अतः मुझे शिक्षा देने का आपको कोई अधिकार नहीं है। उन्होंने भी मुझे उसी लहजे में तत्काल उत्तर दिया कि तुम दस दिनों के घमण्ड में फूले हो, मैं दीक्षा में तुम्हारे से नौ महीने बड़ा हूं।

एक बार मैंने उनको कोई सुझाव दिया तो उसका मजाक उड़ाते हुए उन्होंने मुझसे कहा—"तुम्हारा तो नाम ही 'बुद्धू' है, तुम मुझे क्या सुझाव दे सकते हो!" मैंने भी 'जैसे को तैसा' उत्तर देते हुए कहा—"मैं समझदार व्यक्ति के कथन को ही महत्त्व देता हूं। 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' मेरे विषय में क्या कहते हैं, उस पर कभी ध्यान नहीं देता।"

जो आज भी याद है

आक्षेपात्मक परिहास प्रायः कटुता उत्पन्न कर देते हैं जबकि गुदगुदाने वाले परिहास तृप्तिदायक होते हैं। वे बहुधा अपनी स्मृति में भी वैसी ही तृप्ति प्रदान करते हैं। मेरे द्वारा किया गया एक परिहास, जिसे मैं भूल चुका था, परन्तु युवाचार्यजी को आज भी वह याद है। इसका पता मुझे तब लगा जब युवाचार्य बनने से तीन-चार दिन पूर्व ही बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मुझे उस घटना का स्मरण कराया। उक्त घटना सं० २००१ के ग्रीष्मकाल की है। उस समय वे कुछ मास का प्रथम बहिर्विहार करके वापस आये थे। बाईस वर्ष की चढ़ती अवस्था और निश्चित एवं स्वतंत्र विहरण ने उनके शरीर पर काफी अच्छा प्रभाव डाला। रक्ताभ मुख उनकी स्वस्थता का अग्रिम परिचय दे रहा था। मैंने उनको वन्दन किया और परिहासमय प्राचीन श्लोक का एक चरण सुनाते हुए उसी के माध्यम से उन्हें सुखपृच्छा की। स्थित्यनुकूल सटीक बैठने वाला अपना परिहास सुनकर वे खिलखिला पड़े। अभी अभी राजलदेसर में युवाचार्य बनने से पूर्व उन्होंने मुझे मेरी परिहास-प्रकृति का स्मरण दिलाते हुए वही चरण गुनगुना कर कहा—"क्या तुम्हें याद है कि तुमने मेरे लिए इसका प्रयोग किया था।" लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व किए गए उस परिहास को याद कर हम दोनों एक बार फिर खिलखिला कर हंस पड़े। साथ के साधु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिज्ञासापूर्वक उस श्लोक के लिए पूछते रहे। उन सबकी जिज्ञासा को हम दोनों ने हंसकर टाल दिया। शायद तब उपयुक्त भी यही था।

इस पड़ाव पर

आचार्यश्री तुलसी ने सं० २००० का चातुर्मास करने के लिए मुझे अग्रणी बनाकर श्रीडूंगरगढ़ भेज दिया। उसके पश्चात् धीरे-धीरे मुझे बहिर्विहारी ही बना दिया गया। तभी से हम दोनों के कार्यक्षेत्रों में पार्थक्य प्रारम्भ हो गया। मुनि श्री नथमलजी को आचार्यश्री के सामीप्य का निरन्तर लाभ प्राप्त होता रहा, मुझे वह नहीं मिल पाया। पैंतीस वर्षों के इस प्रलंब बहिर्विहार-काल में मैंने जीवन की दुर्गम घाटियों के अनेक उतार-चढ़ाव पार किए हैं। आज जिस पड़ाव पर खड़ा हूं, वहां से पूरे अतीत को बहुत स्पष्टता से देख रहा हूं। विगत का पूरा लेखा-जोखा मेरे मस्तिष्क में अंकित है। उसके पृष्ठ उलटता-पलटता हूं तो पाता हूं कि बाल-सखा मुनि नथमलजी युवाचार्य महाप्रज्ञ बनकर भी आज मेरे वही निकटतम साथी हैं। यात्रा-मार्ग और पड़ावों की दूरियां हमारे सख्य में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर पाई हैं।

नया मोड़ आ रहा है

आचार्यश्री तुलसी ने मुनि नथमलजी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। चारों ओर वातावरण में एक हर्षोत्फुल्लता छा गई। मैंने एक अतिरिक्त आह्लाद और गौरव का अनुभव किया। दूसरे दिन प्रातः प्रतिलेखन आदि कार्यों से निवृत्त होकर बैठा ही था कि अचानक युवाचार्यश्री मेरे कमरे में प्रविष्ट हुए। मैंने उठकर उनका स्वागत किया और आने का कारण पूछा। उन्होंने कहा—"तुम तो मेरे साथी हो, साथी के लिए आया हूं।" उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा और कहा—"चलो आचार्यश्री के पास चलें।" मैं उनके साथ गया तो आचार्यश्री ने उस स्थिति पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए जो कुछ कहा, वह मुझे गद्गद कर गया। उसी दिन प्रातः कालीन व्याख्यान में युवाचार्य का अभिनन्दन करते हुए मैंने उक्त घटना का उल्लेख किया तो उत्तर देते समय युवाचार्य ने मेरी बात को छूते हुए कहा—"साथी तो साथी ही रहता है।" मैंने अनुभव किया, संस्मरणों के प्रवाह में अवरोध नहीं, एक नया मोड़ आ रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति-स्वरूपा जैन साध्वियां

नारी जाति को शक्ति का अवतार कहा जाता है, वह उचित ही है, क्योंकि सहिष्णुता के क्षेत्र में वह अद्वितीय रही है। उसके सामर्थ्य की कहानियों से इतिहास भरा पड़ा है। मैं यहां कुछ ऐसी जैन साध्वियों के उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूं जिनकी सात्त्विक शक्ति ने उनके अपने कल्याण का मार्ग तो प्रशस्त किया ही, साथ ही जन-जीवन के लिए भी मार्ग प्रस्तुत किया। कष्ट-सहिष्णुता, कार्य-कुशलता, भक्ति-प्रवणता आदि अनेक ऐसी विशेषताएं हैं, जो अपनी परिपूर्ण उच्चता में प्रायः क्वचित् ही प्रकट होती हैं। विभिन्न साध्वियों में उनमें से एक या अनेक का सहज अवलोकन किया जा सकता है। सर्व प्रथम यहां सरदार सती के विषय में बतलाया जा रहा है। उनमें उपर्युक्त तीनों ही विशेषताएं अपनी अनुपम छटा लिये हुए थीं।

१. सरदारसती

प्रारंभिक जीवन

सरदारसती चूरू (राजस्थान) के जैतरूपजी कोठारी की पुत्री थीं। उनका जन्म वि० सं० १८६५ में हुआ। तत्कालीन प्रथा के अनुसार मात्र दस वर्ष की अवस्था में ही उनका विवाह फलौदी के सेठ सुलतानमलजी ढड्ढा के पुत्र जोरावरमलजी के साथ कर दिया गया। छह महीने भी नहीं हो पाये थे कि उनके पति का देहान्त हो गया। वे विवाहिता होकर भी अखंडशीला ही रहीं। थोड़ी बड़ी होने पर जब वे अपनी स्थिति को समझने लगीं तभी से सादगी और संयम उनके जीवन का ध्येय बन गया।

धार्मिक रंग

थली में तेरापंथ का प्रचार-प्रसार करने के लिए सर्व प्रथम ऋषिराय महाराज का पदार्पण हुआ। सरदारबाई भी तब उनके सम्पर्क में आयीं। उसी वर्ष (सं० १८८७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) का चातुर्मास-प्रवास चूरू में हुआ। सरदारबाई ने उनके पास तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और सुदृढ़ श्राविका बन गयीं। उस समय से उनके मन पर धर्म का रंग ऐसा चढ़ा कि फिर किसी दूसरे रंग के लिए अवकाश ही नहीं रहा।

सरदारबाई कभी अपने पीहर तथा कभी ससुराल में रहा करती थीं। सं० १८९४ के पोषमास में वे फलौदी में थीं तभी मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) का वहां पदार्पण हुआ। उस अप्रत्याशित सत्संग का उन्होंने काफी लाभ उठाया। उनके मन का धार्मिक रंग और गहरा हो गया। वे तब दीक्षा ग्रहण कर संन्यस्त जीवन जीने की बात सोचने लगीं। परन्तु उनके सम्मुख एक बड़ी बाधा थी कि ससुराल वालों से दीक्षा के लिए आज्ञा कैसे ली जाए? उनके दो जेठ तथा तीन देवर थे। घर में बड़े जेठ बहादुरचन्दजी का आदेश-निर्देश चलता था। वे बहुत कड़े स्वभाव के व्यक्ति थे। दूसरी बाधा यह भी थी कि तत्कालीन सामाजिक पद्धति किसी भी बहू को अपने से पद में बड़े पुरुष के साथ बोलने की आज्ञा नहीं देती थी। इतना ही नहीं, उसके सामने से गुजरना भी मर्यादा-भंग माना जाता था। उन्होंने तब जेठानी जी को माध्यम बनाकर आज्ञा लेने का उपक्रम किया। बहादुरचन्दजी ने सारी बातें सुनीं और फिर रोष व्यक्त करते हुए कहा—"करोड़पतियों की बेटी और करोड़पतियों की बहू भी भीख मांगेगी तो दरिद्र क्या करेंगे? बहू से कह दो कि फिर कभी ऐसी बात मेरे सामने न आये।" सरदारबाई चुप हो गयीं। आगे कुछ कहलाने का वे साहस नहीं जुटा पायीं। धर्म का रंग अन्दर-ही-अन्दर पकता रहा, घुटता रहा, पर आगे का द्वार अवरुद्ध ही दिखाई दिया।

प्राणों की बाजी

दो वर्ष तक शान्त साधना करते रहने के पश्चात् सरदारबाई को लगा कि बलिदान के बिना कोई कार्य होने वाला नहीं है। तब सं० १८९६ में उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक आज्ञा-पत्र प्राप्त नहीं कर लूंगी तब तक बेले-बेले पारण (दो दिनों के अन्तर से भोजन) किया करूंगी। साथ ही प्रति मास एक पंचोला (पांच दिनों का उपवास) या उससे अधिक कोई तपस्या करती रहूंगी।

बहादुरचन्दजी को जब उनकी प्रतिज्ञा का पता चला तो उन्होंने कहा—"किसी को भूखों मरना हो तो उसकी इच्छा, पर हम यह कभी नहीं होने देंगे कि हमारे घर का कोई व्यक्ति भीख मांग कर खाये और हमारे समाज में हमारी नाक कटवाए।" तपस्या चलती रही परन्तु जेठ पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ तब सरदारबाई ने दबाव डालने के लिए घर का भोजन ग्रहण करने का त्याग कर दिया। इस पर जेठ ने उनके लिए घर से बाहर जाने की रोक लगा दी। एक-एक कर छह दिन निराहार निकल गये तब जेठ को झुकना पड़ा। अपने पुरोहित के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहां से भोजन मंगवा कर उन्हें पारण करवाया गया। बेले-बेले की तपस्या तो चलती ही थी अतः हर तीसरे दिन बाहर से भोजन मंगाना पड़ता था। उसका भी कोई प्रभाव नहीं हुआ तब सरदारबाई ने केश-लुंचन कर श्वेत वस्त्र पहन लिये और आज्ञापत्र न मिलने तक अन्य प्रकार के वस्त्रों का त्याग कर दिया। उनके इस व्यवहार से जेठ जल-भुन गये। उन्होंने अपनी पत्नी को आदेश दिया कि वह बल-पूर्वक उनके वे वस्त्र उतरवा दे। परन्तु पत्नी ने वैसा करना उचित नहीं समझा। जेठ ने कहा—"मर भले ही जाओ, परन्तु आज्ञा नहीं मिलेगी।"

जेठ के उक्त शब्दों से सरदारबाई ने स्पष्ट समझ लिया कि अब 'करो या मरो' के सिवा कोई मार्ग नहीं है। उन्होंने तब प्राणों की बाजी लगाते हुए घोषित किया कि जब तक दीक्षा की आज्ञा नहीं दी जायेगी तब तक वे अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगी। उनकी प्रतिज्ञा ने एक साथ ही सबको हिला दिया। बहादुरचन्दजी भी अन्दर से तो चिंतित हुए परन्तु बाहर से कठोर बने रहे।

अनशन कर देने के पश्चात् सरदारबाई प्रायः अपने कमरे में ही रहने लगीं। उनका अधिकांश समय जप, ध्यान आदि धार्मिक क्रियाओं में व्यतीत होने लगा। निर्जल अनशन के एक-एक कर आठ दिन गुजर गये। तब तक फलौदी के घर-घर में अनशन की बात फैल गयी। बहादुरचन्दजी पर तरह-तरह के दबाव आने लगे तब उन्हें कोई मार्ग निकालने के लिए सोचना पड़ा। कठोरता को वे आजमा चुके थे, अतः इस बार नम्रता से प्रलोभन देकर झुका लेने की बात सोची। वे सरदारबाई के पास आये और बोले—"तुम चाहो तो मेरे दोनों पुत्रों में से किसी एक को गोद ले लो। धन की पांती लेकर पृथक रहना चाहो तो पृथक् रहो और साथ रहना चाहो तो साथ। गरीबों में धन बांटना चाहो तो खूब बांटो, अपने घर में कोई कमी नहीं है। साधु-साध्वियों की सेवा में कहीं जाने की इच्छा हो तो रथ एवं नौकरों आदि की पूरी व्यवस्था कर दी जायेगी। जो भी मन में आये, वह सब करो पर एक ही शर्त है कि दीक्षा की बात छोड़ दो।" सरदार सती को इनमें से कोई भी बात स्वीकार नहीं हुई तब बहादुरचन्दजी निराश होकर वापस चले गये।

घोर निर्जल तपस्या के कारण सरदारबाई के मुख से खून गिरने लगा। उससे सभी को घबराहट हुई। जेठ के सिवा घर के शेष सभी सदस्यों की उनके प्रति पूर्ण सहानुभूति थी। अस्सी वर्षीया वृद्ध दादीसास तथा जेठानी आदि ने आज्ञा दे देने के लिए बहादुरचन्दजी पर बहुत दबाव डाला पर उनके तो वही ढाक के तीन पात रहे। अनशन के दस दिन व्यतीत हो गये तब जेठानी ने उनकी सहानुभूति में तब तक अन्न-जल का त्याग कर दिया जब तक कि उनका वह अनशन चले। इसी प्रकार दादीसास ने भी औषधि और जल के सिवा भोजन ग्रहण करने का त्याग कर दिया। घर में तीन व्यक्तियों के आजीवन तपस्या चलने लगी। घर के सभी सदस्यों का सामना करना ढड्ढा जी के लिए कठिन हो गया तब उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यमनस्कता के साथ आज्ञापत्र लिख दिया। निर्धारित संकल्प पूर्ण हो चुका था, अतः सरदारसती ने उस दिन जल ग्रहण किया और अगले दिन पारण कर लिया। आज्ञापत्र लिख देने पर भी उन्हें सौंपा नहीं गया, अतः बेले-बेले की तपस्या, घर के भोजन का त्याग तथा श्वेत वस्त्र-परिधान—ये तीन प्रत्याख्यान पूर्ववत् चालू रहे।

आज्ञापत्र सौंप देने के लिए बात चलाई तो जेठ ने कहा—"लिख ही दिया है तो अब सौंपना ही है। चूरू भेजेंगे तब सौंप देंगे।" जेठ के उक्त कथन से सरदार सती आश्वस्त हो गयी, पर वह धोखा ही निकला। दिन व्यतीत होते गये किंतु न चूरू भेजने की तैयारी की गयी और न आज्ञापत्र ही सौंपा गया। जानबूझकर किये जाने वाले उस विलंब का कहीं अन्त दिखाई नहीं दिया तब उन्हें दूसरी बार अपने प्राणों की बाजी लगानी पड़ी। उन्होंने चूरू भेजने की तैयारी करने से पूर्व अन्न-जल का त्याग कर दिया। इतनी-सी बात के लिए भी निर्जल तपस्या के सात दिन निकल गये तब जाकर तैयारी की गयी। आठवें दिन पारण करके वे रथ पर बैठकर विदा हुईं।

विदा होने से पूर्व सरदारबाई ने अपने सारे आभूषण जेठ को संभला दिये। जेठ ने चालीस हजार रुपये उन्हें देते हुए कहा—"अपने आभूषण और ये रुपये जैसे चाहो वैसे अपने हाथों से बांट दो।" उन्होंने तब उनमें से पन्द्रह सौ रुपये तो आगम खरीदने के लिए रखे, शेष रुपये, आभूषण और कपड़े इच्छानुसार बांट दिए।

विदा होने लगीं तब सरदारबाई ने आज्ञापत्र मांगा। जेठ ने कहा—"तुम्हारे साथ जा रहे मुनीमजी को वह दे दिया है। वे तुम्हारे पिताजी के सामने ही तुम्हें सौंप देंगे।" जेठ का यह कथन एक मायाचार मात्र था। चूरू पहुंचने पर मुनीम ने आज्ञापत्र उसके पिता और भाई को देते हुए सरदारबाई को बतलाया कि उसे ऐसा ही आदेश था। पिता और भाई भी उनकी दीक्षा के विरुद्ध थे, अतः बात पुनः खटाई में पड़ गई। अनेक तपस्या, अनेक प्रत्याख्यान और अनेक दबावों के बाद भी जब आज्ञापत्र उन्हें नहीं दिया गया तब तीसरी बार उन्होंने अन्न-जल का परित्याग कर दिया। आज्ञापत्र उनके लिए प्राणांतक परीक्षाओं का एक सिलसिला बन गया था। प्रचंड गरमी के दिनों में निर्जल अनशन के पांच दिन निकल गये। आखिर पिता और भाई का मन पिघला। उन्होंने एक शर्त रखी कि पांच वर्ष तक दीक्षा नहीं लेने का वचन दो तो आज्ञापत्र तुम्हें अभी सौंप दिया जायेगा। सरदारबाई ने कहा—"आप पांच वर्ष की बात करते हैं, परन्तु आज्ञापत्र सौंपे बिना तो मेरे पांच दिन भी निकल पाने संभव नहीं हैं।" आखिर आज्ञापत्र उन्हें सौंप दिया गया तब कहीं उन्होंने जल ग्रहण किया। आज्ञापत्र की प्राप्ति के साथ ही तद् विषयक उनके सारे त्याग पूर्ण हो गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम के पथ पर

मुनि जीतमलजी उस समय तक युवाचार्य बन चुके थे। उनका चातुर्मास उदयपुर में था। सरदारबाई ने उनके दर्शनों की व्यवस्था के लिए कहा तब पिता ने सुरक्षा तथा काम के लिए कुछ स्त्री-पुरुषों को उनके साथ ऊंटों पर भेजा। सरदारबाई बहली पर बैठकर विदा हुई। थली, मारवाड़ तथा मेवाड़ के अनेक क्षेत्रों से साधु-साध्वियों के दर्शन करती हुई कार्तिक कृष्णा ४ को उदयपुर पहुंची। युवाचार्यश्री के दर्शन किये। आज्ञा-प्राप्ति में आये संकटों की कहानी सुनाई। अत्यंत कठिनता से प्राप्त छोटे से आज्ञापत्र को युवाचार्यश्री के सम्मुख रखते हुए उन्होंने कहा—"इन तीन पंक्तियों के लिए मुझे तीन बार आमरण अनशन करना पड़ा है।" साहस और सहिष्णुता की उस अभिनव कहानी को सुनकर उपस्थित सभी व्यक्तियों को रोमांच हो आया।

सरदारबाई ने युवाचार्यश्री से यथाशीघ्र दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की, परन्तु उस समय उदयपुर में साध्वियां नहीं थी अतः प्रतीक्षा करना आवश्यक था। चातुर्मास के पश्चात् गोगुंदा से दो साध्वियां वहां आईं तब सं० १८९७ मार्गशीर्ष कृष्णा ४ को उन्हें दीक्षित किया गया। बहुत शीघ्र उन्होंने साधुचर्या के हर कार्य में निपुणता प्राप्त कर ली। ग्रहणशीलता और बुद्धि की प्रखरता के बल पर आगमिक अध्ययन भी अच्छा कर लिया। साहस और कार्यक्षमता की उनमें कोई कमी नहीं थी। इन सभी गुणों के आधार पर आचार्य ऋषिराय ने उनको अग्रणी बना दिया। अनेक वर्षों तक वे अग्रगण्या के रूप में जनपद-विहार करती रहीं।

सं० १९०८ में ऋषिराय के दिवंगत होने पर आचार्य पद पर जयाचार्य आसीन हुए। उस समय तक साध्वी-समाज अपने-अपने सिंघाड़ों के रूप में ही चलता था। सभी सिंघाड़ों की कोई सुनियोजित और सुनियंत्रित व्यवस्था नहीं थी। जयाचार्य ने ऐसी व्यवस्था करनी चाही। उसमें उन्हें सरदार सती की व्यवहार-कुशलता का अच्छा सहयोग मिला। सं० १९१० में उन्हें साध्वी-प्रमुखा बनाया गया। वे तेरापंथ धर्मसंघ की प्रथम साध्वी-प्रमुखा थीं। उससे पूर्व सभी साध्वियों की आवश्यकताओं एवं व्यवस्थाओं की चिंता करने वाली कोई नियुक्त साध्वी नहीं थी। प्रत्येक अग्रणी साध्वी प्रायः अपने सिंघाड़े में रहने वाली साध्वियों की ही मुख्यतः चिन्ता किया करती थी। सरदार सती ने कार्य संभालने के पश्चात् बड़ी सूझ-बूझ और परिश्रम से काम किया। धीरे-धीरे साध्वियों के सभी सिंघाड़े उनकी निश्रा में आ गये। सोलह वर्ष पश्चात् सं० १९२६ में उन्होंने सिंघाड़ों की नयी व्यवस्था की। उस समय संघ में १७४ साध्वियां थीं। उनमें दस सिंघाड़े, जो पहले थे, वे ही रखे और शेष साध्वियों में से योग्य देखकर एक ही दिन में तेईस नये सिंघाड़े बना दिये। सबमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुशासन की भावना जगाना तथा चालू व्यवस्था को बदलकर दूसरी करना—ये दोनों ही बड़े कठिन कार्य हैं, परन्तु सरदार सती ने बड़ी निपुणता के साथ उन्हें कर दिखाया।

साध्वी-प्रमुखा बनने के पश्चात् सरदार सती ने सभी चातुर्मास जयाचार्य के साथ ही किये। सभी व्यक्तियों के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यंत शालीन और वात्सल्य भरा रहता था, अतः लोग उनका माता के समान आदर करते थे। सं० १९२७ में कुछ दिन की अस्वस्थता के पश्चात् वे पोषशुक्ला ८ को अनशन-पूर्वक दिवंगत हो गईं।

२. गुलाब सती

विदुषी साध्वी

महासती गुलाबकुंवरजी एक विदुषी साध्वी थीं। बीदासर (राजस्थान) के पूर्णमलजी बेगवाणी के घर सं० १९०१ में उनका जन्म हुआ। पंचमाचार्य मघवागणी की वे सगी छोटी बहन थीं। बाल्यावस्था में ही जयाचार्य के पास दीक्षित होकर गंभीर आगम-ज्ञान अर्जित किया। मधुर कंठ और सरस व्याख्यान के लिए वे सर्वत्र प्रसिद्ध थीं। वे सदैव जयाचार्य एवं मघवागणी के साथ ही विहार करती रहीं। मध्याह्न का व्याख्यान बहुधा वे ही दिया करती थीं। अनेक बार विहार करते समय गांवों में राजपरिवार के गढ़ों में ठहरने के भी अवसर आते रहते थे। वहां रनिवास की महिलाओं तथा ठाकुरों को भी उनका व्याख्यान सुनने का अवसर मिलता। वे बहुत प्रभावित होते। कोई उन्हें शक्ति का अवतार बतलाता तो कोई सरस्वती का।

गणेश का अवतार

गुलाबसती हस्तलेखन में बड़ी निपुण थीं। उनके अक्षर बहुत सुन्दर थे। उनकी लिखी हुई आगमों तथा ग्रंथों की अनेक प्रतियां आज भी धर्म संघ के भंडार की शोभा बढ़ा रही हैं। उनके द्वारा लिपिबद्ध किये गये ग्रंथों का पद्यमान लगभग डेढ लाख है। अपने युग में इतना सुन्दर और इतना अधिक लिखने वाली वे प्रथम साध्वी थीं।

जयाचार्य ने सर्वाधिक बृहत् जैनागम भगवती की पद्यबद्ध टीका (जोड़) की। उसे लिखने का कार्य गुलाब सती ने संभाला। जयाचार्य पद्य बनाते जाते वे लिखती जातीं। ग्रंथनिर्माण की दृष्टि से यदि जयाचार्य की तुलना महर्षि व्यास से की जाए तो गुलाबसती को गणेश का अवतार कहना अत्युक्ति नहीं होगी। एक बार सुन लेने के पश्चात् वे प्रायः दुबारा नहीं पूछा करती थीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेत-वसना सरस्वती

गुलाबसती को प्रकृति ने खुले हाथों से रूप-सौष्ठव प्रदान किया था तो वैदुष्य उन्होंने अपने परिश्रम के बल पर अर्जित किया था। संपर्क में आने वाले व्यक्ति पर उनके उस बाह्य एवं आंतरिक सौष्ठव का ऐसा प्रभाव पड़ता कि वह उनके व्यक्तित्व की तुलना करने में किसी मानवी को नहीं, देवी को ही उपस्थित करता।

सं० १९४२ में मघवागणी के साथ वे जोधपुर में थीं। उस समय के राजमान्य कविराज गणेश पुरीजी मघवागणी के सम्पर्क में आये। अनेक विषयों पर बातचीत कर वे बड़े प्रभावित हुए। जाने लगे तब आचार्यश्री ने कहा 'अवसर हो तो गुलाबसती का सम्पर्क भी करिये।' कविराजजी उसी समय साध्वियों के स्थान पर गए और बातचीत की। वे उनसे इतने प्रभावित हुए कि घर न जाकर वापस मघवागणी के पास आये और बोले—'वे तो श्वेत-वसना साक्षात् सरस्वती हैं। मैं अनेक रजवाड़ों में अंतःपुर तक गया हूं। अनेक रूपवती बहनें देखी हैं, पर रूप और वैदुष्य का ऐसा मणिकांचन संयोग कहीं नहीं देखा।'

सं० १९२७ में सरदारसती के पश्चात् जयाचार्य ने गुलाबसती को साध्वी-प्रमुखा बनाया। ग्यारह वर्षों तक जयाचार्य के समय तथा चार वर्षों तक मघवागणी के समय उन्होंने उस भार को बड़ी निपुणता से निभाया। स्वभाव की कोमलता के कारण वे सभी के लिए आराधनीया और पूज्या बनीं। गुलाबसती ने आयुष्य-बल बहुत कम पाया। उनकी छाती पर एक गांठ उठी। अनेक उपचारों के बाद भी वह ठीक नहीं हुई। उसी के कारण ४१ वर्ष की अवस्था में ही सं० १९४२ पोषकृष्णा ८ को जोधपुर में उन्होंने अनशन-पूर्वक देहत्याग कर दिया।

३. नवल सती

पीहर भेज दिया

महासती नवलांजी का जन्म सं० १८८५ में रामसिंहजी का गुड़ा (मारवाड़) में कुशालचंदजी गोलछा की पुत्री रूप में हुआ। तेरह वर्ष की बाल्यावस्था में ही उनका विवाह पाली के अनोपचंद जी बाफणा के साथ किया गया, परन्तु जब वे सत्रह वर्ष की हुईं तब उनके पति का देहान्त हो गया। ससुराल वाले तेरापंथी थे अतः नवलबाई का सम्पर्क मुख्यतः तेरापंथी साधु-साध्वियों से हुआ और वे उनके प्रति दृढ़ आस्था रखने लगीं। धीरे-धीरे उनमें विरक्ति के भाव उभरे और वे संयम ग्रहण करने की बात सोचने लगीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवार वाले दीक्षा देने के समर्थक नहीं थे। उन्होंने ऐसा सहज उपाय खोजा कि सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। उन्होंने नवलबाई को उनके पीहर भेज दिया। पीहर वाले स्थानकवासी थे और तेरापंथ से विरोध रखते थे। उन्हें सारी स्थिति से अवगत भी कर दिया ताकि वे साधु-साध्वियों के सम्पर्क से उन्हें बचा सकें। वे पीहर आईं तभी से माता-पिता विशेष सावधानी रखने लगे।

किंवाड़ गिर पड़े

नवल बाई प्रायः घर में ही सामायिक आदि धर्म-क्रियाएं कर लेतीं। तेरापंथी साधु साध्वियों का उस समय तक उधर के क्षेत्रों में कम ही आना होता था। पर संयोग तो संयोग ही होता है। उस वर्ष साध्वियों का एक सिंघाड़ा वहां आ गया। सावधान माता-पिता ने नवल बाई को रोके रखने के लिए कमरे के किंवाड़ जड़ दिये।

बेटी का मार्ग तो उन्होंने रोक दिया परन्तु भवितव्यता का मार्ग रोकना उनके वश की बात नहीं थी। नवल बाई तो नहीं जा सकीं, परन्तु गोचरी करती हुई सतियां उनके घर पहुंच गईं। बच्चों की हलचल तथा आवाजों से नवल बाई को पता लग गया कि सतियां आई हैं। वे जानती थीं कि दरवाजा बाहर से बन्द है, फिर भी अपनी भावना के वेग को नहीं रोक सकीं। दर्शन करने की लालसा में उन्होंने उठकर किवाड़ों को थोड़ा-सा धकेला। किंवाड़ भी मानो उनके करस्पर्श की प्रतीक्षा में ही खड़े थे। ज्यों ही हथेलियों का दबाव उन पर पड़ा, वे चौखट सहित ही नीचे आ गिरे।

नवल बाई ने बाहर आकर साध्वियों के दर्शन किये तो सभी पारिवारिक चकित रह गये। किंवाड़ों का इस प्रकार गिर जाना एक चमत्कार माना गया। उसी दिन से नवल बाई के मार्ग की सब बाधाएं समाप्त हो गईं। वह पूरा परिवार तभी से तेरापंथी बन गया।

नवल बाई ने वि० सं० १९०५ चैत्र शुक्ला ३ को ऋषिराय के पास पाली में संयम ग्रहण किया। थोड़े ही वर्षों में वे एक विदुषी साध्वी बन गईं। आगमों के अध्ययन में उनकी तीव्र रुचि थी। उन्होंने अनेक बार समग्र आगमों का पारायण किया। ऋषिराय ने उनको शीघ्र ही अग्रणी बना दिया। सं० १९४२ में गुलाबसती के दिवंगत होने पर मघवागणी ने उनको साध्वी-प्रमुखा का भार सौंपा। तेरह वर्षों तक उन्होंने उस उत्तरदायित्व को बड़ी कुशलता के साथ निभाया। सं० १९५५ आषाढ कृष्णा ५ को वे अनशन-पूर्वक बीदासर में दिवंगत हुईं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. सती साध्वी प्रमुखा जेठांजी

साध्वी-प्रमुखा जेठांजी सेवा और तपस्या की प्रतिमूर्त्ति थीं। अठारह वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर वे सेवा में लग गईं। छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं, रोगी या नीरोग का भी प्रश्न नहीं। किसी का भी कार्य पाकर वे उसमें ऐसी तत्परता से लगतीं, मानो वह स्वयं उन्हीं का कार्य हो। साध्वी-प्रमुखा बनने के बाद भी वे सेवा-भावना से प्रचालित रहीं। वे एक उच्च कोटि की तपस्विनी भी थीं। बाईस दिनों का निर्जल उपवास करके उन्होंने तेरापंथ में जो कीर्तिमान स्थापित किया, वह आज भी विद्यमान है। उनका जीवन-काल सं० १६०१ से सं० १६८१ तक का था।

५. सती रूपांजी

सती रूपांजी रावलिया (मेवाड़) की थीं। दीक्षा की भावना होने पर पति आदि ने नाना प्रकार से कष्ट दिये। विचलित नहीं कर सके तब उन्हें 'खोड़े' में डाल दिया गया। 'खोड़ा' काष्ठ-निर्मित बंधन होता था। उसके छेद में पैर डालकर ताला लगा देने पर व्यक्ति कहीं जा नहीं सकता था। रूपांजी उस कैद में भी सारे दिन भजन-स्तवन गातीं और स्वामीजी के नाम का जप करतीं। प्रकृति के किसी गूढ चमत्कार से इक्कीसवें दिन 'खोड़ा' स्वयं ही टूट गया। जनता में बात फैली। उदयपुर के महाराणा तक भी पहुंची। उन्होंने परिवार वालों को उपालंभ पूर्वक कहलाया कि ऐसे भक्तजनों को कष्ट न पहुंचाया जाए। आज्ञा मिलने पर सं० १८५२ में दीक्षा हुई पर पांच वर्ष बाद ही वे दिवंगत हो गईं।

६. सती दीपांजी

सती दीपांजी जोजावर (मारवाड़) की थीं। सं० १८७२ में दीक्षित हुईं। अत्यंत निर्भीक, विदुषी एवं शास्त्रार्थ-निपुण थीं। एक बार लावा-सरदारगढ़ में अन्य संप्रदाय के मुनि मानजी ने उन्हें ठाकुर साहब की मध्यस्थता में गढ़ में शास्त्रार्थ करने के लिए आह्वान किया। दीपांजी ने उसे स्वीकार कर सभा में उन्हें पराजय दी।

एक बार जंगल में एक लुटेरे ने तलवार के बल पर उनके वस्त्रपात्र नीचे रखवा लिये। पर ज्यों ही वह उन्हें समेटकर बांधने लगा, दीपांजी ने उसकी तलवार उठा ली। फिर वह उसे तभी मिली जब साध्वी-मंडल अगले गांव पहुंच गया।

एक बार जंगल में कई लुटेरों ने उन्हें घेर लिया। वस्त्र पात्र रखवा लिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीपांजी ने तब साध्वियों का गोल घेरा बनाया और नमस्कार मंत्र का जोर-जोर से जप करने लगीं। लुटेरे अनिष्ट की आशंका से घबरा कर भाग खड़े हुए।

एक बार किसी श्रावक ने उनके पात्र में बहुत सारा घी डाल दिया। शाम को खिचड़ी आदि में मिलाकर सतियों ने उसे खा लिया। प्रतिक्रमण के पश्चात् दीपांजी ने सबको तपस्या की प्रेरणा दी। फलस्वरूप उनके सिंघाड़े में एक साथ पांच छह-मासी तप हुए। सं० १६१८ आमेट में उन्होंने अनशन पूर्वक देह-त्याग किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जयपुर के प्रमुख तेरापंथी श्रावक

हरचन्दलाल जी सींधड़

जयपुर आचार्य भिक्षु के समय में ही तेरापंथ का विहार क्षेत्र बन गया था। स्वामीजी यहां सं० १८४८ के[1] फाल्गुल मास में पधारे और २२ रात बिराजे। प्रतिदिन बड़े सरस और प्रेरक व्याख्यान हुआ करते थे। स्वामीजी के द्वारा सम्यक्त्व और चारित्र के विषय में किए गए विवेचनों ने यहां के धार्मिक क्षेत्र को ऊहापोह से भर दिया। लोगों के मुख से सुन सुनकर युवक हरचन्दलालजी स्वामीजी के प्रति आकृष्ट हुए और उनके सम्पर्क में आये। एक दिन आये तो फिर मानो निरन्तर आने के लिए बंध ही गए। बातचीत की, तत्त्व को समझा और फिर गुरु धारणा कर ली। उनके पिता किसनचन्द जी उस समय के प्रसिद्ध जौहरी गिने जाते थे। धार्मिक दृष्टि से मन्दिर मार्गी थे। हरचन्दलालजी जवाहरात के काम में दक्ष हो चुके थे वे पिता के बड़े विनीत थे अतः उन्होंने स्वामीजी से कहा—मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण पिताजी को किसी प्रकार का खेद हो अतः आप मेरा नाम प्रकट मत करना। स्वामीजी के नाम प्रकट करने का कोई प्रयोजन नहीं था, परन्तु उनके साथ आने वालों से बात छिपी नहीं थी।

स्वामीजी के उस पदार्पण के लगभग २० वर्ष पश्चात् आचार्य भारमलजी

---

१. ऋषिराय सुजस ६/दो० ३

'भिखू प्रथम पधारिया, सैंतालिसे उनमान।
रात्रि बावीस रै आसरे, रह्या मुनी गुणखान॥

उपर्युक्त पद के अनुसार स्वामीजी का जयपुर प्रवास सं० १८४७ में हुआ, परन्तु लाडनूं स्थित शासन के पुस्तक भण्डार में युवाचार्य भारमल जी द्वारा लिखित साधु आचारी की प्रति है। उसकी पूर्ति जयपुर में सं० १८४८ फाल्गुन शुक्ला १५ गुरुवार को हुई, ऐसा लिखा है। उससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि स्वामीजी सवाई माधोपुर चातुर्मास करने के पश्चात् फाल्गुन में जयपुर पधारे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का यहां चातुर्मास के लिए पधारना हुआ। लम्बे समय तक सम्भाल न होने पर भी हरचन्दलालजी बहुत दृढ़ रहे। उस चातुर्मास मे उनका पूरा परिवार दृढ़धर्मी हो गया। सं० १८६९ का वह चातुर्मास जनोपकार की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रहा। अनेक नये परिवारों ने गुरुधारणा की। उसके पश्चात् तो साधु-साध्वियों तथा आचार्यश्री का यहां बार-बार पदार्पण होता रहा।

हरचन्दलालजी जवाहरात के काम में बहुत दक्ष थे। उन्होंने अपने व्यापार को इतना बढ़ाया कि यातायात की असुविधा के उस युग में भी कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, दिल्ली और आगरा आदि १२ नगरों में अपने नये व्यापार-केन्द्र प्रारम्भ दिये। अपने समय में वे जौहरियों के बादशाह कहे जाते थे। व्यापारिक और धार्मिक—दोनों क्षेत्रों में शिखरस्थ बन जाने वाले विरल व्यक्ति ही देखे जाते हैं। हरचन्दलालजी उन्हीं व्यक्तियों में से एक थे। उनकी उस उन्नति से अनेक लोग प्रसन्न थे तो अनेक ईर्ष्यालु भी।

अजमेर निवासी एक व्यापारी सेठ ने ईर्ष्यावश एक कुटिल चाल चली। उन्होंने बाजार से उनके नाम की छः लाख रुपयों की हुंडियां एकत्रित कर लीं। वे उन्हें भुगतान के लिए एक साथ जयपुर भेज देना चाहते थे, ताकि समय पर भुगतान न कर पाने पर उनका दिवाला निकल जाए। परन्तु बिल्ली के चाहने पर कब छींके टूटे हैं? हुंडियों के एक दलाल को उक्त योजना का पता चल गया। उसने तत्काल जयपुर आकर हरचन्दलालजी को चेता दिया कि कल बाजार खुलते ही आपके नाम छः लाख रुपयों की हुंडियां आने वाली हैं। ये समाचार मिले तब तक प्रहर रात्रि व्यतीत हो चुकी थी। बाजार सब बन्द हो चुके थे, अतः इतनी बड़ी रकम एकत्रित करना सहज नहीं था, फिर भी कार्य तो करना ही था। वे उसी समय अपने व्यावसायिक मित्रों से मिले और साढ़े पांच लाख रुपयों की व्यवस्था कर ली। पचास हजार रुपये उस दिन उनकी अपनी दुकान मे पोते बाकी थे। इस प्रकार छः लाख रुपयों से भरे कट्टे जब उनकी हवेली में पहुंच गये तब वे निश्चिन्त होकर सोये।

दूसरे दिन बाजार खुलते ही उन सेठजी का आदमी हुंडियां 'देखी' (स्वीकार) करवाने आ पहुंचा। हरचन्दलालजी ने सारी हुंडियां तत्काल 'देखी' कर दीं। मध्याह्न होने तक तो उन्होंने भुगतान भी भेज दिया। उन सेठजी के सारे मनसूबे एक साथ ही मिट्टी में मिल गए। हरचन्दलालजी का एक बाल भी बांका नहीं हुआ।

उस समय तक जयपुर में व्यापारियों के लिए यह नियम था कि जिस दिन हुंडी पहुंचे उसी दिन देखी कर दें और बारह बजे तक भुगतान भेज दें। हरचन्दलालजी ने सर्राफों की पंचायत बुलाई और उसमें उन सेठजी की नीयत का दिग्दर्शन कराते हुए भुगतान करने के नियम को बदल देने की आवश्यकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बतलाई। सभी ने सोच-विचार कर एक मत से यह नियम बनाया कि जयपुर की हुंडी का भुगतान तीन दिनों में तथा बाहर की हुंडी का भुगतान इक्कीस दिनों में कर दिया जाये। यह नियम बन जाने पर व्यापारियों को काफी सुविधा हो गई।

हरचन्दलालजी धनिक होने के साथ-साथ धार्मिक भी उच्चकोटि के थे। उन्होंने जयपुर क्षेत्र में धार्मिक प्रचार-प्रसार का काफी प्रयास किया। उनके सम्पर्क से सैकड़ों व्यक्ति तेरापंथी बने। उनकी अगली अनेक पीढ़ियों ने भी यथावत् अपना दायित्व निभाया। सं० १८६६ में उनकी हवेली में प्रथम चातुर्मास हुआ तब से कुछ अपवादों को छोड़कर सं० २००६ तक प्रायः वहीं चातुर्मास होते रहे। इतने लम्बे समय तक 'शय्यातर' का लाभ विरल व्यक्ति ही ले पाते हैं।

२. महेशदासजी मूथा

महेशदासजी मूथा मूलतः किशनगढ़ के थे, परन्तु बाद में जयपुर निवासी हो गये। सं० १८६६ के ग्रीष्मकाल में आचार्य भारमलजी किशनगढ़ पधारे तब वे तेरापंथ के विरोधी थे, कट्टर स्थानकवासी श्रावक थे। वहां शास्त्रार्थ का निश्चय हुआ। जब शास्त्रार्थ में निरुत्तर हो गये तब पहले से बनाई व्यवस्था के अनुसार हल्ला मचा दिया गया कि तेरापंथी हार गये। सभा विसर्जित हो गयी। वहां कोई तेरापंथ का घर नहीं था, अतः कोई प्रत्युत्तर करने वाला भी नहीं था। कालान्तर में महेशदासजी तेरापंथी बन गये तब उन्होंने यह भेद स्वयं ही खोला कि हल्ला मचवाने में उन्हीं का मुख्य हाथ था। उन्होंने अपनी एक गीतिका में भी इस बात को स्पष्ट किया है—

रुपया दीया पांच, ते तो किम बोले सांच।

मुनि हेमराजजी ने सं० १८६६ का चातुर्मास किशनगढ़ में किया। प्रारम्भ में वहां कोई तेरापंथी नहीं था, परन्तु चातुर्मास की समाप्ति तक अनेक व्यक्ति तेरापंथी बने। महेशदासजी भी उनमें से एक थे। उनकी पत्नी सं० १८७७ के बाद तेरापंथी बनी। महेशदासजी ने उन्हें समझाने के लिए सं० १८७७ में 'गुरुओलखावण' नाम से एक गीतिका बनाई। उसमें उन्होंने तेरापंथी की वेशभूषा से लेकर आचार-विचार तक की बातों से उन्हें अवगत कराया। श्रद्धा ग्रहण करने के पश्चात् वे भी उन जैसी ही पक्की हो गयी। महेशदासजी ने पांचों व्यक्तियों को श्रद्धाशील बनाया।

वे एक कवि हृदय व्यक्ति थे। उनकी अनेक गीतिकाएं काफी प्रसिद्ध हुईं। कुछ तो आज भी अनेक व्यक्तियों के मुखस्थ मिलती हैं, जैसे—'आज रो दिहाड़ो जी भलाई सूरज ऊगियो', 'भेंट भविशरण ले चरण भिक्षु तणो' तथा 'वे गुरु म्हारा थे कर ल्योनी थांहरा' आदि। पीपाड़ के समदड़िया परिवार के पास हस्तलिखित पोथे में उनकी अनेक ढालें संकलित मिलती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. रामचन्दजी कोठारी

रामचन्दजी कोठारी का जन्म सं० १८५० के आसपास हुआ। सं० १८८५ में अग्रणी अवस्था में जयाचार्य का जयपुर चातुर्मास हुआ। उसमें ५२ व्यक्तियों ने तत्त्व को समझकर श्रद्धा ग्रहण की। उनमें रामचन्दजी भी एक थे। धीरे-धीरे वे एक त्यागी, विरागी एवं दृढ़धर्मी श्रावक बन गये। वे एक निपुण व्यापारी भी थे। जयपुर, आगरा, बोलपुर और कलकत्ता आदि नगरों में उनके भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यापार थे।

एक बार वे किसी परिस्थितिवश शंकाशील बन गये और आना-जाना तथा वंदन-व्यवहार छोड़ दिया। कुछ समय पश्चात् ही सं० १६०७ के शेषकाल में युवाचार्य जय का वहां पदार्पण हो गया। उन्होंने जब सुना कि रामचन्दजी शंकाशील हो गये हैं तो उन्होंने उनसे बातचीत की और उनकी शंकाओं का समाधान कर दिया। वे पुनः पूर्ववत् आने लगे। उन्होंने जयाचार्य का बड़ा उपकार माना कि वे यदि उनकी शंकाओं को नहीं मिटाते तो उनके विराधक हो जाने की सम्भावना थी। उसके बाद वे आजीवन एक जागरूक श्रावक रहे।

४. भैरूंलालजी सींधड़

भैरूंलालजी सींधड़ जयाचार्य के अनन्य भक्त श्रावकों में गिने जाते थे। वे जयपुर के प्रथम श्रावक हरचन्दलालजी के पौत्र थे। वे अपने दादा के समान ही व्यापार कुशल एवं नीति निपुण व्यक्ति थे। जयाचार्य के समवयस्क होने के कारण उनके प्रति उनकी सहज घनिष्ठता हो गयी। जयाचार्य उनसे परामर्श भी किया करते थे। कहा जाता है कि युवाचार्य जय ने सं० १६०४ में चातुर्मास किया तभी भैरूंलालजी ने उनसे वचन ले लिया था कि आचार्य बनने के पश्चात् प्रथम चातुर्मास उन्हें ही देंगे। यही कारण था कि आचार्य बनते ही जयाचार्य थली के सब नगरों को छोड़कर चातुर्मास हेतु जयपुर पधारे। इसी प्रकार वृद्धावस्था में जयपुर की ओर प्रस्थान करने में भी भैरूंलालजी की प्रार्थना ही कारणभूत बनी। फलतः सं० १६३७ एवं ३८ के दो चातुर्मास जयपुर को प्राप्त हुए।

भैरूंलालजी बड़े सेवापरायण व्यक्ति थे। वे प्रतिवर्ष जयाचार्य की सेवा में जाते और महीने-दो महीने से लेकर छः-छः महीनों तक की सेवा करते थे। घर में जिस ठाठ-बाट से रहते उसी ठाठ से वे सेवा में भी रहते थे। अनेक नौकर उनके साथ रहते। विहारों में सेवा का अवसर होता तब वे ठहरने के लिए तम्बू भी साथ रखते थे। यहां तक कि गायें भी उनके साथ रहती थीं। तरह-तरह का दूध पीने के वे अभ्यस्त नहीं थे।

एक बार जयाचार्य भैरूंलालजी की हवेली में विराज रहे थे। जयपुर नरेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामसिंहजी वेष बदलकर नगर में घूमा करते थे। अवसर देखकर कई बार जयाचार्य के दर्शन हेतु हवेली में आ जाया करते थे। नरेश के साथ बहुधा ठाकुर नारायणसिंहजी रहा करते थे। एक बार हवेली में प्रविष्ट होते समय ठाकुर साहब ने किसी प्रसंग पर उन्हें 'अन्नदाता' कहा। सींधड़जी के नौकर ने वह शब्द सुना तो जान गया कि नरेश आये हैं। नौकर ने भैरूंलालजी को सारी बात बतलाई तो वे द्वार पर आकर उनके बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगे। नरेश आये तो सींधड़जी ने मोहर भेंट करनी चाही। नरेश मुस्कराकर बोले—अच्छा तो तुमने मुझे पहचान लिया है। सींधड़जी ने बड़ी सुघड़ता से उत्तर दिया कि सूर्य को कौन नहीं पहचान लेता? नरेश उनके उस कथन से बड़े प्रसन्न हुए। वे यह कहकर आगे बढ़ गये कि यहां तो हम दर्शन करने आये थे, भेंट लेने नहीं।

सं० १९३८ की श्रावण पूर्णिमा के दिन सींधड़जी अचानक रुग्ण हो गये। जयाचार्य वहीं हवेली में नीचे चातुर्मास कर रहे थे। वे स्वयं वृद्ध थे, फिर भी मध्याह्न और सायं दो बार ऊपर जाकर उन्हें दर्शन दिये। जयाचार्य के मंगल उपदेश से लालाजी को बड़ी सांत्वना मिली। वे उसी रात्रि को दिवंगत हो गये। बड़ा परिवार था, बहुत लोगों के आने की सम्भावना थी, अतः जयाचार्य वहां से सरदारमलजी लूनिया के मकान में पधार गये। लालाजी ने प्रार्थना करायी तब छठे दिन वापस वहीं पधार गये। वहां भाद्र कृष्णा १२ को जयाचार्य भी दिवंगत हो गये। भैरूंलालजी ने गुरु विरह नहीं देखा। वे उनसे १२ दिन पूर्व ही प्रस्थान कर गये थे।

५. पनराजजी लूनिया

पनराजजी लूनिया श्रद्धाशील और धनवान व्यक्ति थे। चापलूस मित्र मण्डली की कुसंगति ने उन्हें जुआ खेलने के व्यसन में डाल दिया। परिवार के लोग उससे बहुत दुःखी हुए। घर में सबसे बड़े वे ही थे, अतः कहने-सुनने की भी एक सीमा ही थी। पत्नी, पुत्र आदि के कथन को वे सुना-अनसुना करते रहे। सब उपाय व्यर्थ हो गये तब उनकी पत्नी तथा पुत्र सरदारमलजी ने एक उपाय सोचा और उसी के अनुसार पनराजजी से कहा कि पूरे परिवार को जयाचार्य के दर्शन करा दें। उन्होंने तब पूरे परिवार के साथ पाली में दर्शन किये। पत्नी और पुत्र ने एकान्त में जयाचार्य को सारी स्थिति बतलायी और उन्हें किसी भी तरह जुए का त्याग करा देने की प्रार्थना की।

जयाचार्य ने पनराजजी को उपदेश दिया तो वे लज्जित तो बहुत हुए परन्तु कह दिया कि मेरे से छोड़ा नहीं जाता। कई प्रकार से ऊंचा-नीचा लेने पर भी नहीं माने तब एक दिन जयाचार्य ने आदेश के रूप में कहा—हाथ जोड़ो! उन्होंने हाथ जोड़े तो उन्होंने जुए का त्याग कराकर कहा—मैंने तुम्हारा मन न होने पर भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हारे हित के लिए त्याग करवा दिये हैं। मुझे विश्वास है कि तुम मेरे आदेश का आदर करोगे और त्याग का यथावत् पालन करोगे। वे स्वीकार या अस्वीकार कुछ भी नहीं कर सके। फिर जयपुर चले आये।

पहले तो वे बड़ी असमंजसता में रहे, परन्तु अन्ततः मन को दृढ़ किया और मित्रों के आगमन के समय श्मसान भूमि में जाकर सामायिक करने लगे। दो-चार दिन ऐसा किया तब मित्र मण्डली ने अपना दूसरा स्थान बना लिया। फलतः वे सहज ही उस कुसंगति से बच गये।

एक दिन श्मसान भूमि में वे सामायिक कर रहे थे, उसी समय उनका एक जुआरी मित्र आया और उनकी अंगुली में से हीरे की अंगूठी निकाल ली। जाते समय उन्हें धर्म और गुरु की सौगंध दिला दी कि यह बात किसी तीसरे को मत कहना। पनराजजी घर आये तो पत्नी ने नंगी अंगुली देखकर पूछ लिया कि अंगूठी कहां गयी? वे मौन रहे। तब सबने जान लिया कि जुए में हार आये हैं। जयाचार्य उस समय जयपुर में ही थे। शिकायत उन तक पहुंची। उन्होंने भी पूछा तो पनराजजी ने इतना ही कहा कि मेरे त्याग यथावत् हैं, परन्तु अंगूठी के विषय में बतलाने की स्थिति में नहीं हूं। सभी ने उनकी बात को व्यर्थ समझा।

कई वर्षों पश्चात् जुआरी मित्र ने अंगूठी लौटाई और सबके सम्मुख अपनी स्थिति बतलाते हुए कहा—जोधपुर में इसे गिरवी रखकर २० हजार रुपये लिये और व्यापार किया। उसमें ४० हजार की कमाई कर ली, तब अंगूठी (छुड़ाकर) तुम्हें देने आया हूं। तुम्हारी अंगूठी ने मेरी लाज रख ली। परिवार वालों को तब पता चला कि अंगूठी कहां गयी थी? जयाचार्य ने सुना तो उनकी गम्भीरता की प्रशंसा की।

६. सरदारमलजी लूनिया

सरदारमलजी लूनिया पनराजजी के पुत्र थे। उनका जीवनकाल सं० १९०४ से १९६९ तक का था। जयाचार्य की उन पर बहुत कृपा थी। कहा जाता है कि विहार आदि के अवसर पर उन्हें पहुंचने में देरी हो जाती तो जयाचार्य भी दो क्षण प्रतीक्षा कर लेते।

समाज में भी उनका बड़ा सम्मान था। अपनी दुकान पर जाने के लिए ज्यों ही कटला में प्रविष्ट होते, प्रत्येक दुकानदार उनके सम्मान में खड़ा हो जाता। वे किसी से कुछ पूछ लेते या दो क्षण बात कर लेते तो वह स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता।

जयाचार्य का दाह-संस्कार सरदारमलजी के बाग में ही किया गया था। उसे अब सरकार ने ले लिया और म्यूजियम के पार्श्ववर्ती क्षेत्र में मिला लिया। वहां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनायी गयी सड़क के किनारे जयाचार्य की छत्री अब भी अपनी महत्ता का इतिहास कह रही है।

७. छोगमलजी बांठिया

छोगमलजी भागचन्दजी बांठिया के पुत्र थे। जयपुर के तत्कालीन प्रधानमंत्री हाथी बाबूजी के साथ भागचन्दजी की प्रगाढ़ मित्रता थी। उन्हीं की प्रेरणा से वे सं० १६०० के आसपास चूरू से आकर जयपुर में बस गये और व्यवसाय करने लगे। पुत्र छोगमलजी ने व्यवसाय का मार्ग न अपना कर राज्य सेवा अपनायी। यहां से जकात महकमे के हाकिम बन गये। राज्य के तत्कालीन वित्तमंत्री मोतीलालजी अटल उनके घनिष्ठ मित्र थे। किसी भी विशिष्ट कार्य से पूर्व वे दोनों परस्पर परामर्श अवश्य कर लिया करते थे।

छोगमलजी के कोई पुत्र नहीं था, अतः अपने छोटे भाई के पुत्र सूरजमलजी को गोद ले लिया। उन्होंने उनको व्यवसाय में स्थापित किया। पुत्र ने ज्यों-ज्यों घर का भार सम्भाला, छोगमलजी अधिकाधिक धार्मिक कार्यों में समय लगाने लगे। वे ऋषिराय और जयाचार्य के समय में एक प्रमुख श्रावक थे। वे दिवंगत हुए उस समय सींधड़ों की हवेली में साध्वी रायकंवरजी विराज रही थीं। वे सं० १६४४ से ५२ तक कारणवश वहां रही थी। छोगमलजी ने बड़े प्रभावक ढंग से उनके दर्शन किये। मृत्यु के कुछ समय पश्चात् अर्द्ध रात्रि के समय पूरे मकान में विचित्र प्रकार का एक प्रकाश फैल गया। सींधड़ परिवार के गणेशलालजी, चम्पालालजी तथा उनकी पत्नियों ने उस दृश्य को प्रत्यक्ष देखा था। उनका कथन था कि प्रकाश और सर-सर जैसी ध्वनि से मकान मानो भर गया। फिर एक तेज ज्योतिपिंड नीचे उतरा और साध्वीश्री को वंदन किया। साध्वीजी ने बोली पहचान कर पूछा—कौन, छोगमलजी? उत्तर मिला—हां महाराज! और फिर वह ज्योतिपिंड, प्रकाश और सर-सर की ध्वनि सब अन्तर्धान हो गये।

८. सूरजमलजी बांठिया

सूरजमलजी बांठिया छोगमलजी के छोटे भाई बीजराजजी के पुत्र थे। छोगमलजी के गोद गये थे। वे एक कुशल व्यापारी होने के साथ-साथ अच्छे धार्मिक भी थे। श्रावक जनोचित सामान्य प्रत्याख्यानों के अतिरिक्त उनको अनेक विशेष प्रत्याख्यान भी थे। वे छाता लगाने, पंखे आदि से हवा लेने तक का त्याग रखते थे। सामाजिक कार्यों में भी वे जागरूक थे। उन्होंने संवत् १६७० में एक पाठशाला प्रारम्भ की। उसमें बालकों को धार्मिक एवं संस्कृत विद्या पढ़ायी जाती थी। कालान्तर में वहां हिन्दी, अंग्रेजी तथा गणित आदि विषय भी पढ़ाये जाने लगे। प्रारम्भ में उसका अर्थभार बांठियाजी ने ही वहन किया। कालान्तर में उसे राज्य के शिक्षा विभाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से संबद्ध कर दिया और व्यय-भार भी तेरापंथी समाज को सौंप दिया। उस समय भी सूरजमलजी ने २५०० रुपये दिये। वर्तमान में वह उच्च माध्यमिक के रूप में चल रहा है।

९. सदासुखजी दूगड़

सदासुखजी दूगड़ के पिता खेतसीदासजी सं० १९२५ में फतहपुर (शेखावाटी) से आकर जयपुर में बसे थे। सदासुखजी उस समय १७ वर्ष के किशोर थे। उनका विवाह पहले ही हो चुका था। जयपुर में आने के बाद उन्होंने जयाचार्य से गुरुधारणा की। बड़े उच्चकोटि के श्रावक हुए। प्रतिदिन ३-४ सामायिक करते। थोकड़े बहुत आते थे। पत्नी भी उसी प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति की थी। दोनों प्रायः सामायिक में थोकड़ों आदि का खूब स्वाध्याय करते। उनके पुत्र नहीं था, अतः बीदासर से चन्दनमलजी को गोद लाये। सं० १९७४ में ६५ वर्ष की अवस्था में दिवंगत हो गये।

१०. सूरजमलजी सुराणा

सूरजमलजी सुराणा के पिता मन्नालालजी गदर के समय सं० १९१४ में दिल्ली से आकर जयपुर बसे थे। उन्होंने जयाचार्य के पास गुरुधारणा की। सूरजमलजी का जन्म सं० १९२७ में हुआ। वे बड़े तत्त्वज्ञ श्रावक थे। स्थानकवासी विद्वान् संत आते तो वहां भी जाया करते थे। वहां दान-दया आदि विषयों पर खूब चर्चा करते। एक बार स्थानकवासी मुनि माधोलालजी का वहां चातुर्मास था। सूरजमलजी मुनि पूनमचन्दजी से रामचरित सुनने के बाद वहां जाया करते थे। सद्भाव युक्त चर्चा चलती रहती थी। एक दिन मुनि माधोलालजी ने कहा—तेरापंथ में दान और दया है ही नहीं। सूरजमलजी ने कहा—शीतकाल में यदि मैं आपके पास आऊं और शीत से कांपने लगूं तो क्या आप अपनी चादर मुझे दे देंगे? मुनि माधोलालजी ने कहा—हम चादर को परठ देंगे।

सूरजमलजी—मैं स्पष्ट समझा नहीं, थोड़ा खुलासा करिये।

मुनिजी—हम चादर से ममत्व उतारकर उसे पृथक् रख देंगे।

सूरजमलजी—तो क्या पहले आपका उस पर ममत्व था? इस पर मुनि माधोलालजी कुछ बोल नहीं पाये, चुप्पी साध गये। उनके श्रावकों को भी वह चुप्पी अखरी तो सही पर बोलने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं था। मुनि माधोलालजी ने बात को मोड़ देते हुए कहा—तेरापंथ में तुम्हारी जैसी खोपड़ियां कितनी हैं!

सूरजमलजी ने उनके व्यंग्य की उपेक्षा करते हुए कहा—मैं तो बहुत साधारण हूं। मेरी जानकारी बहुत न्यून है। विशेष जानकार तो हमारे यहां श्रावक गुलाबचन्दजी लूणिया, सूजानमलजी खारेड़, नानगरामजी नागौरी तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्दनमलजी दुगड़ आदि गिने जाते हैं। आपकी चर्चा करने की इच्छा हो तो उन्हें कह दूं।

मुनि माधोलालजी ने कोई उत्तर न देकर चुप रहने में ही लाभ समझा। उनके लिए तो सूरजमलजी भारी पड़ रहे थे।

११. गुलाबचन्दजी लूणिया

गुलाबचन्दजी लूणिया के पूर्वज जैसलमेर में रहते थे, फिर दिल्ली में बस गये। सं० १८७० में गोरुलालजी ने जयपुर को निवास स्थान बनाया। गुलाबचन्दजी का जन्म सं० १९३५ में हुआ। उन्होंने मुनि पूनमचन्दजी के पास अच्छा तत्त्वज्ञान प्राप्त किया। चर्चा-वार्ता में बड़े निपुण थे। गाने की विशेष योग्यता थी। गीतिकाएं, व्याख्यान तथा तात्त्विक ग्रंथ लिखते थे। घर में ग्रंथों तथा आगमों का अच्छा संग्रह रखते थे। जवाहरात तथा प्राचीन वस्तुओं का व्यापार था। पूरी प्रामाणिकता से कार्य करते थे। दुकान पर आने वाले विदेशियों में से अनेक को मुनि-दर्शन करवाते थे। बारह व्रत धारे हुए थे।

१२. लिछमनदासजी खारड़

लिछमनदासजी श्रीमाल जाति में खारेड़ गोत्र के थे। उनके पूर्वज रोहतक के पास मेहम गांव में आकर जयपुर में बसे थे। जवाहरात का कार्य किया करते थे। लिछमनदासजी के एक छोटे भाई हुकमचन्दजी थे जो कि माणकगणि के पिता थे। वे मल्ल विद्या में अधिक रुचि रखा करते थे। अतः प्रतिदिन अखाड़े में जाकर बल आजमाया करते थे। परन्तु यह सब वे बड़े भाई से छिपाकर ही किया करते थे।

एक बार वे फतेहटीबा में होने वाले किसी दंगल में गये। किसी ने यह बात लिछमनदासजी से कह दी, वे तत्काल वहां गये और उनको बुलाकर घर ले आये। उपालम्भ देते हुए कहा—हम जौहरी हैं, कुश्ती लड़ना हमारा कार्य नहीं है। वे उन्हें व्यापार के निमित्त बम्बई, सूरत आदि दूरवर्ती क्षेत्रों में भेजते रहते। एक बार बम्बई से वापिस आते समय मार्ग में भील, डाकुओं ने उन्हें घेरकर लूट लिया और मार डाला। उनके बाल-बच्चों का भरण-पोषण लिछमनदासजी ने ही किया। माणकगणि को विराग हुआ तब लिछमनदासजी ने बड़ी कठिनाई से आज्ञा दी। स्वयं जयाचार्य को उसमें प्रेरक बनना पड़ा।

लिछमनदासजी अच्छे तत्त्वज्ञ श्रावक थे। सेवापरायण भी थे प्रतिवर्ष दर्शन सेवा का लाभ लेते थे जहां जाते वहां धर्म की चर्चा करते। बम्बई में सूरत निवासी आनन्दजी भाई (मगन भाई के दादा) आदि को समझाने का श्रेय उन्हीं को है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. सुजानमलजी खारेड़

सुजानमलजी खारेड़ का जन्म सं० १९३५ चैत्र कृष्णा ५ को हुआ। वे माणकगणि के बड़े भाई कस्तूरीचन्दजी के पुत्र थे। अच्छा तत्त्वज्ञान था। गुलाबचन्दजी लूणिया के साथ मिलकर अच्छा गाया करते थे। थोकड़े काफी कण्ठस्थ थे। प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध भी कण्ठस्थ किया था। बारह व्रत धारे हुए थे। जवाहरात की दलाली करते थे। उसके सिवा अन्य आय का त्याग था। एक बार सरदारशहर निवासी श्रावक वृद्धिचन्दजी गोठी ने उनके माध्यम से जयपुर से कोई वस्तु मंगवाई। उन्होंने पार्सल के द्वारा भेज दी। गोठीजी ने तब वस्तु का मूल्य और उनकी आढ़त के रुपये भेजे। उन्होंने आढ़त के रुपये वापस लौटाते हुए लिखा कि उन्हें ऐसी कमाई का प्रत्याख्यान है। उनका देहावसान सं० २००५ माघ कृष्णा २ को हुआ।

१४. नानकरामजी नागौरी

नानकरामजी अग्रवाल जाति के थे। उनके पूर्वज मंगलचन्दजी ने जयाचार्य के पास श्रद्धा ग्रहण की थी। जैलजी उनके दत्तक पुत्र थे। उनके दो पुत्र हुए—नानकरामजी और बल्लिलालजी। दोनों ही भाई अत्यन्त निष्ठावान और भक्तिमान श्रावक थे। नानगरामजी को, काफी थोकड़े कण्ठस्थ थे। धारणा बहुत अच्छी और गहरी थी वे तन, मन, धन से शासन की सेवा किया करते थे। स्थानीय तेरापंथी सभा के अनेक वर्षों तक सभापति रहे। सं० २०२३ में उनका देहान्त हुआ। उनके दत्तक पुत्र श्यामलालजी ने उनकी स्मृति में सं० २०२५ में मिलाप भवन में दो हॉल बनवाये।

१५. मनजी काला

मन्नालालजी काला को संक्षेप में मनजी काला ही कहा जाता था। अग्रवाल जाति के थे। 'काला' उनका विशेषण इसलिए बन गया था कि पीढ़ियों से उनके पूर्वज सांप काटे का उपचार करते थे। मनजी भी यह कार्य करते थे। यह कार्य केवल उपचार की दृष्टि से किया जाता था। उनके बदले में पैसा या भेंट बिल्कुल नहीं ली जाती थी। मनजी का जीवन सं० १८९८ से सं० १९६८ तक का था।

दलाली का कार्य करते थे अतः मनजी का लाला भैरूंलालजी सींधड़ के वहां भी आना-जाना रहता था। उसी सम्पर्क से साधु-साध्वियों से परिचित हुए। जयाचार्य के पास गुरु धारणा ली। तत्त्वज्ञान किया। सामायिक दिन-प्रतिदिन करते रहते थे। अनेक लोगों को उन्होंने थोकड़ों का ज्ञान करवाया। कहा जाता है कि घर-घर जाकर थोकड़ा सिखाया करते थे। इसलिए उनका नाम 'उस्तादजी' पड़ गया। लगभग ७० वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. किसनलालजी पाटनी

किसनलालजी पाटनी खण्डेलवाल दिगम्बर थे। जयाचार्य के पास तत्त्व समझकर तेरापंथी बने। धीरे-धीरे उनके प्रयास से पूरा परिवार तेरापंथी बन गया। व्यापार में भी वे पूरी सत्यता निभाते थे। एक भाव और पूरी तौल, यह उनकी छाप थी। व्यापार दिन में ही करते थे। रात का समय सन्तों के पास या सामायिक स्वाध्याय में बिताते। दुकान पर भी वे खुले मुंह बात नहीं करते थे अतः लोग 'ढूंढ़िया' कहकर पुकारने लगे। पीढ़ियों तक उक्त विशेषण गोत्र की तरह उस परिवार के साथ जुड़ा रहा। किसनलालजी विरागी तत्त्वज्ञ श्रावक थे। आजीवन उन्होंने अपने व्रतों को बहुत दृढ़ता से निभाया।

१७. केसरलालजी और गौरीलालजी पाटनी

केसरलालजी और गौरीलालजी पाटनी सुन्दरलालजी के पुत्र थे। ये दोनों किसनलालजी पाटनी के प्रपौत्र थे। दोनों भाई दृढ़ श्रद्धाशील और अच्छे तत्त्वज्ञ थे। केसरलालजी वकालत करते थे। प्रतिदिन सामायिक करते और व्याख्यान सुनते थे। चर्चा-वार्ता में भी निपुण थे।

गौरीलालजी भी बी० ए०, एल-एल० बी० थे। हिन्दी की मध्यमा और उर्दू की मुन्शी तक शिक्षा प्राप्त की। उत्साही और बड़े परिश्रमी थे। सार्वजनिक कार्यों में भी काफी रुचि रखते थे। अनेक संस्थाओं के पदाधिकारी रहे। १२ वर्षों तक जयपुर नगरपालिका परिषद् के सदस्य रहे और फिर उपाध्यक्ष भी रहे। तेरापंथी विद्यालय के भी अनेक वर्षों तक मंत्री रहे। मुनि-दर्शन, सामायिक और व्याख्यान आदि में भी यथासमय रुचि से भाग लेते थे।

१८. बखतावरसिंहजी भांडिया

भैरूदासजी भांडिया लखनऊ से आकर जयपुर में बसे। जवाहरात का कार्य करते थे। मन्दिरमार्गी आम्नाय के थे। बखतावरसिंहजी ने जयाचार्य के पास गुरुधारणा की। उनके कोई पुत्र नहीं था अतः आनन्दीलालजी को गोद लिया। वे भी दृढ़ श्रद्धालु और धर्मपरायण श्रावक थे। कहा जाता है कि एक बार किसी व्यक्ति का उनके साथ आग्रह हो गया कि जितनी सामायिक वे करेंगे उतनी ही वह भी करेगा। आनन्दीलालजी ने तब लगातार १०१ सामायिक की। दूसरा व्यक्ति स्वयं ही पराजित हो गया। इनके पुत्र गुलाबचन्द ने भी उस समय एक साथ २१ सामायिक की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. भूरामलजी पटोलिया

भूरामलजी पटोलिया के पूर्वज लखनऊ से आकर जयपुर बसे थे। वे श्रीमाल थे। और खरतरगच्छीय संवेगी थे। भूरामलजी के पिता मोतीलालजी ने ऋषिराय के पास गुरुधारणा की थी। वे लाला भैरूंलालजी सींधड़ के भानजे थे। भूरालालजी जयाचार्य के बड़े श्रद्धालु श्रावकों में से थे। वे अपने समय के अच्छे विद्वान् और बहु प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। संस्कृत, उर्दू, फारसी और अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के विद्वान् थे। वे राज्य के हिसाब महकमे में उच्चाधिकारी थे। नरेश के अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्तियों में गिने जाते थे। आचार्य का स्वर्गवास हुआ, उस समय जयपुर राज्य की ओर से लवाजमा आदि की जो भी आज्ञाएं हुईं, वे सब भूरामलजी के नाम से हुई थीं। उन्होंने उसी समय उस राजाज्ञा का 'स्याहा' बनवा लिया। स्याहा बनवा लेने से वह आज्ञा पुनरावर्त्तनीय कोटि में आ गयी। उसी आधार पर कालान्तर में सं० १९७० में मुनि फूसराजजी तथा सं० १९९६ में मुनि पूनमचंदजी के दिवंगत होने पर लवाजमा प्राप्त करने की सुविधा काम में ली गयी।

भूरामलजी के तीन पुत्र थे—सूरजमलजी, छगनलालजी और मगनलालजी। सूरजमलजी ने अमरीकी विश्वविद्यालय में कानूनी परीक्षा देकर एल-एल० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। वे जयपुर नगरपालिका परिषद् के ७ वर्ष तक सदस्य रहे। साथ ही अनेक वर्षों तक सैण्ट्रल एडवाइजरी बोर्ड के भी सदस्य रहे। सात वर्षों तक वे ओनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे। प्रतिदिन सामायिक और स्वाध्याय किया करते थे। व्याख्यान में चातुर्मास काल में तो प्रायः आया करते थे, शेष काल में कभी आ पाते, कभी नहीं।

दूसरे पुत्र छगनलालजी उच्च कोटि के वकील थे। वे भी अच्छे श्रद्धाशील और तत्त्वज्ञ श्रावक थे। जैन धर्म तथा अन्य धर्मों के मन्तव्यों का वे तुलनात्मक अध्ययन करते रहते थे। उन्होंने अपने अध्ययन का सार एक रजिस्टर में संकलित किया था। धर्म-शासन के कार्यों में अच्छा भाग लेते थे। उनके पास जैन-अजैन ग्रन्थों का भी अच्छा संग्रह था।

तीसरे पुत्र मगनलाल जी जवाहरात का कार्य करते थे। वे भी एक अच्छे श्रद्धाशील और धर्मपरायण श्रावक थे। मुनिजनों के दर्शन करने, सामायिक करने तथा व्याख्यान सुनने की रुचि रखते थे।

२०. गट्टूलालजी हटवा

गट्टूलालजी हटवा अग्रवाल थे। बाल्यावस्था में संस्कृत का अध्ययन करते थे। तब सं० १८८१ में मुनि जीतमलजी (जयाचार्य) ने इन्हीं से सुन-सुन कर सारस्वत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याकरण का अध्ययन किया। जयाचार्य के उस सम्पर्क ने उनको एक अच्छा श्रद्धाशील श्रावक बना दिया। कालान्तर में उनका पूरा घर ही श्रद्धाशील बन गया। गट्टूलालजी श्रावक बन गये थे। इसी दृष्टि से शायद मघवा गणी ने जय-सुजस की रचना करते समय उन्हें अध्ययनकाल में भी श्रावक कह दिया है। वे कहते हैं 'सीखतो व्याकरण एक श्रावक' (ज० सु० ३३/५)।

गट्टूलालजी के पुत्र सूवालालजी और पौत्र गंगालालजी (गंगूजी) भी अच्छे श्रद्धाशील श्रावक थे।

२१. चन्दनमलजी दूगड़

चन्दनमलजी बीदासर से सदासुखजी दूगड़ के गोद आये थे। अच्छे तत्त्वज्ञ थे। चर्चा वार्ता में भी रुचि से भाग लेते थे। समाज के कार्यों में भी बड़ी रुचि रखते थे। श्री जैन श्वे० तेरापंथी सभा के अनेक वर्षों तक सभापति व कोषाध्यक्ष पद पर रहे। सं० २००६ के आचार्यश्री तुलसी के चातुर्मास व मर्यादा महोत्सव तक 'चन्दन महल' आचार्यश्री के प्रवास स्थल के पास ही एक मकान में रहे और पूरी सेवा दी। इनका मकान भी साधु-साध्वियों के चातुर्मास स्थल (मिलाप भवन) के सामने ही है। एक बार मिलाप भवन से मकान में आते वक्त एक साइकिल सवार ने टक्कर मार दी जिससे चूलिये की हड्डी टूट गई। इसके बाद चलना-फिरना नहीं हुआ। काफी लम्बे समय अस्वस्थ रहने के बाद सं० २०४४ में दिवंगत हो गये। इनके सुपुत्र श्री धनराजजी भी अच्छे धार्मिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता थे। सं० २०४६ में दिवंगत हो गये।

२२. मोतीलालजी बांठिया

मोतीलालजी बांठिया बीजराजजी बांठिया के पौत्र और सोभागमलजी बांठिया के पुत्र थे। सूरजमलजी बांठिया के कोई पुत्र नहीं था अतः मोतीलालजी को गोद लिया था। उनकी धर्म में अच्छी रुचि थी। अपने ससुराल जाते तब अपने काका श्वसुर श्री तखतमलजी फूलफगर के यहां ठहरते थे। तखतमलजी अच्छे तत्त्वज्ञ थे। मोतीलालजी इनसे बराबर धारणा करते रहते थे। अनेक थोकड़े कण्ठस्थ किये व उन्हें खुलासा कर हृदयंगम किए। गांगेयजी के भांगे भी उन्हें आते थे। उनकी ४ पुत्रियां दीक्षित हैं। साध्वी श्री कमलूजी सं० १९८३, साध्वीश्री सुरजकंवरजी सं० १९८९ में श्रीमद् कालूगणी से दीक्षित हुए। साध्वीश्री पानकंवरजी व रायकंवरजी सं० १९९९ में आचार्यश्री तुलसी से दीक्षित हुए। उनकी पत्नी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमती मनसुखी देवी भी तत्त्वज्ञ श्राविका थी। दोनों का योग सोने में सुगन्ध था। मोतीलालजी ने अपने परिवार में भी अच्छे संस्कार दिए। उनका जीवनकाल १९५४ से १९९६ तक रहा। सुजानगढ़ में आचार्यश्री की सेवा में थे, वहीं १५ दिन बीमार रहकर दिवंगत हो गए। उनका पुत्र पन्नालाल बांठिया एक अच्छा श्रद्धाशील कार्यकर्ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्ठाशील श्रावक : श्री बिहारीलालजी जैन

आत्मीय भाव

बिहारीलालजी जैन राजगढ़ के थे, मैं सादुलपुर का हूं। दोनों नगर भिन्न होते हुए भी इतने सटे हुए हैं कि भिन्नता की सीमा को पहचान पाना कठिन है। राजस्थान में अनेक राजगढ़ हैं, अतः यहां के स्टेशन, डाकघर आदि सरकारी कार्यालय सादुलपुर के नाम से हैं। इस उपक्रम से दोनों नगरों की अभिन्नता और भी गहरी हो गई। बिहारीलालजी के मन में मेरे प्रति जो सामीप्य की भावना थी, उसमें अवश्य ही अनेक कारण रहे होंगे, परन्तु प्रारम्भिक कारणों में एक यह भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं कि मैं उन्हीं के नगर का निवासी हूं। अपने गांव के संतों के प्रति अतिरिक्त आत्मीयता का होना कोई असहज बात नहीं है।

मेरा उनसे प्रथम परिचय कहां और कब हुआ, यह सुनिर्णीत कह पाना तो कठिन है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह राजगढ़ या सादुलपुर में हुआ हो, यह सम्भव नहीं, क्योंकि मैं साढ़े ग्यारह वर्ष की बाल्यावस्था में ही दीक्षित हो गया था। तब से अब तक मुनिचर्या की यायावरी में मुझे अपने गांव की ओर जाने तथा वहां ठहरने के अवसर कम ही उपलब्ध हुए। बिहारीलालजी अपनी बाल्यावस्था में वहां कितने रहे, इसका मुझे पता नहीं, पर बाद में अपनी व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार वे प्रायः कलकत्ता में ही रहने लग गये। जब-तब थली में आने तथा आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित होने के अवसर आये होंगे तब उन्हीं में से किसी अवसर पर वे मेरे से परिचित हुए, ऐसा कहा जा सकता है। मैंने प्रारम्भ से ही अपने प्रति उनमें एक गहरा आत्मीयभाव लक्षित किया है।

प्रथम परिचय

मेरी युवावस्था के समय की बात है। उस समय मध्याह्न तथा रात्रिकाल में समाज के अनेक युवक मेरे पास बैठा करते थे। वे प्रायः पढ़े-लिखे होते थे या पढ़ रहे होते थे, अतः साधु-साध्वियों से उनका संपर्क कम ही रह पाता था। धर्म के विषय में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक जिज्ञासाएं और आशंकाएं उनके मन को घेरे रहती थीं। मेरे पास बैठकर वे बहुधा उन विषयों की चर्चा करते रहते थे। मैं अपनी उस अवस्था में तर्क-वितर्क पूर्ण चर्चाओं में काफी रस लेता था। अपने अनुभव की सीमा में हर तर्क को समाहित करने का भी प्रयास किया करता था। ऐसे प्रसंगों में रुचि रखने वाले अन्य लोग भी श्रवणार्थ वहां बैठ जाते थे।

एक बार सरदारशहर में किसी ऐसी ही चर्चा-गोष्ठी में मैं अपने समाधान प्रस्तुत कर रहा था। युवकों को कितना समाहित कर सका, यह तो कहना कठिन है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि अपने तूणीर के सब तीर वे समाप्त कर चुके थे। दूसरे दिन फिर आने की बात कहकर वे प्रस्तुत प्रसंग को सम्पन्न कर चले गये। श्रवणार्थियों में से कुछ लोग प्रश्नों और उत्तरों की अपने-अपने प्रकार से कुछ देर तक समीक्षा करते रहे, फिर धीरे-धीरे वे भी चले गए। श्रवणार्थियों में उस दिन बिहारीलालजी भी थे। जब दो-चार भाई ही मेरे पास रह गए तब उन्होंने आगे आकर मुझे वन्दन किया और कहने लगे—आपके उत्तर सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। स्पष्ट और तर्कपूर्ण उत्तर देने का यह प्रकार मुझे बहुत ही पसंद आया। उक्त प्रशंसात्मक उद्गारों के साथ-साथ उन्होंने मेरे सादुलपुर निवासी होने के कारण भी अपनी गर्वानुभूति अभिव्यक्त की। मेरी स्मृति के अनुसार बिहारीलाल जी के साथ मेरा यही प्रथम परिचय था।

उक्त परिचय के पश्चात् तो जब भी वे गुरु-दर्शन को आते और यदि मैं वहां होता तो कुछ समय मेरे पास अवश्य व्यतीत करते। मैं भी उनके द्वारा प्रस्तुत की गई बातों में रुचि लेता था।

निकटता से

मैंने कलकत्ता में तीन चातुर्मास किए हैं। सन् १९७० और ७१ के दो चातुर्मास संलग्न किए, उनके शेष काल में भी प्रायः वहीं उपनगरों में विहार करता रहा। उसके पश्चात् एक चातुर्मास गोहाटी में करके पुनः लौटा तब सन् १९७३ का चातुर्मास भी कलकत्ता में ही किया। इन वर्षों में मुझे बिहारीलालजी को निकटता से जानने एवं परखने का अवसर मिला। मैंने पाया कि उनमें साधु-साध्वियों के प्रति अनन्य भक्ति है। सफल व्यापारी होने के साथ ही वे धर्मसंघ के प्रति निष्ठा रखने वाले एक सुश्रावक भी थे। कलकत्ता के उस लम्बे प्रवास में अनेक बार के संपर्क के पश्चात् मैंने देखा कि वे मेरे साथ अपेक्षाकृत खुल कर बात करने लगे थे। अपनी व्यक्तिगत समस्याओं तथा मानसिकताओं के विषय में भी वे मेरे से निस्संकोच बात कर लेते थे। मैंने उनको सदैव सहिष्णु और स्पष्ट पाया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कारदान

कलकत्ता में एक दिन बिहारीलालजी ने मुझे कहा—"आपको कलकत्ता आए कई महीने हो गए, आप अभी तक एक बार भी मेरे मकान पर नहीं पधारे। मैं चाहता हूं, आप घर पर पधारें और कुछ समय लगाकर सभी पारिवारिकों से परिचित हों।" मैंने उनके कथन को स्वीकार किया और एक दिन वहां गया। आसपास के अन्य श्रावकों तथा बिहारीलालजी के घर की गोचरी की। उनके घर पर कुछ देर ठहर कर प्रायः सभी पारिवारिकजनों से परिचय किया तथा धार्मिक प्रेरणा दी। मैंने पाया—बिहारीलालजी ने अपने पूरे परिवार को धार्मिक संस्कारों से अनुप्राणित करने का अच्छा प्रयास किया है।

लाउडस्पीकर

बिहारीलालजी की आवाज काफी बुलंद थी। वे साधारण रूप में बोलते तो भाषण देते हुए-से लगते और भाषण देते तब बिना लाउडस्पीकर के भी लाउडस्पीकर में बोलते हुए-से लगते। मैं कई बार उन्हें कहा करता था कि प्रकृति ने आपके कंठों में ही लाउडस्पीकर फिट कर दिया है, अतः बाहर वाले लाउडस्पीकर की अपेक्षा ही नहीं रहती। वे कभी तो मेरी बात सुनकर केवल हंस ही देते और कभी-कभी मजाक में यों भी कह देते कि आपकी बात तो धीरे से कही हुई भी लोग सुन लेते हैं, पर मेरे जैसे को तो जोर से बोलकर ही अपनी बात सुनानी पड़ती है। और फिर अपने कथन की समाप्ति पर वे जोर से ठहाका लगाकर हंस पड़ते।

एक बार मुनि दिनकरजी और मैं पास-पास में बैठे थे कि बिहारीलालजी आ गए। कमरे में प्रवेश करते ही उन्होंने अपने स्वभावानुसार बड़े जोर से **'मत्थेण वंदामि'** कहा। मैंने कहा—"हम दोनों की ही श्रवण-शक्ति ठीक है, अतः धीमे बोलने से भी काम चल सकता है।" उन्होंने चट से कहा—"आप ही तो कहते हैं कि प्रकृति ने मेरे कंठों में लाउडस्पीकर लगा रखा है, तो बतलाइये, अब मैं उसको निकालकर बाहर कैसे रख सकता हूं?" उनके इस कथन ने उपस्थित सभी व्यक्तियों के मुख पर स्मित रेखाएं खींच दी। मैंने अनुभव किया—वे प्रत्युत्पन्नमति से उत्तर देने में भी बड़े निपुण हैं।

ऐरे गैरे···

राजलदेसर मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आचार्यश्री द्वारा मुनि नथमलजी को महाप्रज्ञ नाम से युवाचार्य पद पर नियुक्त किया गया। उक्त कार्य के उपलक्ष में मित्र-परिषद् द्वारा प्रतिवर्ष निकाली जाने वाली स्मारिका का विशेष अंक निकाला गया। उसमें मेरा एक संस्मरणात्मक लेख छपा। सहपाठी और समवयस्क होने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाते पारस्परिक परिहासों के भी उसमें कई संस्मरण हैं। वहां प्रदत्त एक संस्मरण के अनुसार मुनि नथमलजी (युवाचार्यश्री) ने एक बार मेरे नाम का परिहास करते हुए कहा—"मैं किसी 'बुद्धू' की बात नहीं मानता।" इसके उत्तर में मैंने भी उनके नाम का परिहास करते हुए कहा—"इस विषय में मैं 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' के कथन को कोई महत्त्व नहीं देता।" बिहारीलालजी को उक्त परिहास बहुत पसंद आया, वे कई बार बातचीत के सिलसिले में उसे मेरे सम्मुख दुहरा चुके थे। इतना ही नहीं, कई बार तो अपनी बात की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करने के लिए वे स्वयं भी उसका प्रयोग कर लेते। वे कहते—"इसे 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' की बात मत समझ लेना।" और फिर जोर से ठहाका लगाकर हंस पड़ते।

श्लोक क्या है ?

मित्र परिषद् की स्मारिका के मेरे पूर्वोक्त लेख में एक यह संस्मरण भी है कि मुनि नथमलजी जब पहले-पहल अग्रणी रूप में विहरणकर वापस आचार्यश्री के पास आए तब युवकत्व और नये दायित्व की लालिमा उनकी आकृति पर छाई हुई थी। मैंने उसी स्थिति को व्यक्त करने वाले एक संस्कृत व्यंग्यकार के श्लोक का पद्यांश कहते हुए उनसे सुखपृच्छा की। युवाचार्य बनने से दो-चार दिन पूर्व उन्होंने मुझे उस बात का स्मरण करवाया था और हम दोनों एक साथ हंस पड़े थे। उपर्युक्त संस्मरण को पढ़कर अनेक व्यक्तियों ने मुझसे पूछा था कि वह श्लोक क्या था ? परन्तु उसे बतलाने का अब कोई औचित्य नहीं था अतः मैंने उन सबको टाल दिया।

एक दिन बिहारीलालजी ने भी पूछ लिया कि स्मारिका के लेख में आपने श्लोक का उल्लेख तो किया है पर न वह श्लोक दिया और न उसका भावार्थ ही। पढ़ने वाले को तब कैसे पता लगे कि आपने क्या व्यंग्य किया था और फिर आप लोग उसे याद करके क्यों हंसे थे ?

मैंने कहा—वह पद्यांश उसी समय के लिए उपयुक्त था। मैंने उसे अपने सहपाठी मुनि नथमलजी के लिए कहा था, वर्तमान के युवाचार्य महाप्रज्ञ के लिए नहीं।

मेरा वह बनावटी तर्क उनको समाहित नहीं कर पाया। उन्होंने तत्काल कहा—तो फिर 'ऐरा गैरा नत्थू खैरा' वाला कथन आपने क्यों स्पष्ट कर दिया ? वह भी तो आज के महाप्रज्ञ पर लागू नहीं होता। साफ बात है आप दोनों मित्रों ने चुपके-चुपके ही लड्डू फोड़ लिये और खा लिये। हमें तो केवल दिखाकर चिढ़ाया ही, परोसा तो नहीं।

मेरे पास वस्तुतः उनके कथन का प्रतिवाद करने के लिए कोई स्पष्ट उत्तर नहीं था, फिर भी मैंने कहा—"आपका तो युवाचार्यश्री से भी गहरा सम्बन्ध है, फिर उस श्लोक के विषय में उन्हें ही क्यों नहीं पूछ लेते ?"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिहारीलालजी ने पलटते ही कहा—"बस-बस, रहने दीजिए। मैं आप दोनों के बीच में शूर्पणखा बनना नहीं चाहता" और वह अनुत्तरित प्रश्न उनकी हंसी के एक जोरदार ठहाके के साथ वहीं समाप्त हो गया।

नेता नगरी

एक बार बिहारीलालजी ने मुझसे कहा—"कलकत्ता की एक यात्रा और करिये।"

मैंने कहा—"मैं कलकत्ता दो बार जा आया। तीन चातुर्मास कर लिये। अब तीसरी यात्रा के लिए क्यों कह रहे हैं? अब तो युवावस्था के सिंघाड़ों को ले जाने की बात करनी चाहिए।"

उन्होंने कहा—"अभी तक तो आचार्यश्री भी स्वयं को युवक मानते हैं। आप तो उनसे छह वर्ष छोटे हैं, तब फिर आपके वृद्ध होने का तो प्रश्न ही नहीं है। हम तो आपके कथन के अनुसार युवक सिंघाड़े की ही मांग कर रहे हैं।"

मैंने वार्त्ता के रुख को बदलने की दृष्टि से कहा—"संतों की अपेक्षा सतियों के सिंघाड़े अधिक हैं, अतः उन्हीं में से किसी को चुनना अधिक उपयोगी होगा।"

बिहारीलालजी—यह तो ठीक ही है, हमारे लिए तो साधु और साध्वी—दोनों ही शिर के मोड़ हैं, पर आप अपनी बात के बीच में साध्वियों की बात क्यों लाते हैं?

मैं—साधुओं की अपेक्षा साध्वियां कलकत्ता के लिए अधिक उपयुक्त रहती हैं।

बिहारीलालजी—यह बात तो गले उतरने वाली नहीं कही आपने। साधुओं के पास आने-जाने तथा बातचीत करने की हम लोगों को जितनी स्वतंत्रता मिलती है, उतनी साध्वियों के पास नहीं। दायित्व बढ़ जाता है किन्तु अवसर घट जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी अधिक उपयुक्तता कैसे मानी जा सकती है?

मैं—आपने तो अपनी सुविधा और दायित्व की दृष्टि से ही सोचा है, पर अन्य दृष्टिकोण भी तो हो सकते हैं।

बिहारीलालजी—अन्य दृष्टिकोण कौन-सा हो सकता है, यह भी बतला दीजिये।

मैं—कलकत्ता नेताओं की नगरी है। वहां आनुपातिक रूप से नेता कुछ अधिक ही हैं। उनसे सामंजस्य बिठाकर चलने में सतियां अधिक सफल रह सकती हैं, क्योंकि वे नारी होने के कारण प्रकृति से कोमल और लचीली होती हैं, संतों को प्रायः उतना लचीला बनने में कठिनाई महसूस होती है।

बिहारीलालजी—यह तो आपने बिलकुल नयी बात सामने रख दी। नेताओं को इस पर सोचना चाहिए।

मैं—आप भी तो उन्हीं में से एक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिहारीलालजी—ना बाबा, ना। ऐसी गाली मत दीजिए। मैं तो समाज का एक अदना-सा सेवक हूं।

मैं—यह भी तो नेता का ही एक लक्षण है कि वह स्वयं को मानता तो नेता है, पर कहता सेवक ही है।

बिहारीलालजी—कहीं तो जीने की जगह दीजिए। चारों ओर से क्यों घेरते हैं। और उन्होंने अपना स्वाभाविक ठहाका लगाकर बात की समाप्ति की घोषणा कर दी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रती 'अमन'

निष्ठाशील व्यक्तित्व

श्री गोपीनाथ 'अमन' से मेरा परिचय अणुव्रत आन्दोलन के सिलसिले में हुआ। मैंने पाया कि वे एक मृदुस्वभावी, सरल एवं नीतिनिष्ठ व्यक्ति हैं। किसी भी संस्था के लिए ऐसे व्यक्तियों का सहयोग बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है फिर आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास के लिए कार्य करने वाली संस्थाओं के लिए तो वह मणि-कंचन संयोग जैसा ही कमनीय बन जाता है। अमनजी अणुव्रत आन्दोलन को राष्ट्र के लिए परम उपयोगी मानते थे। वे स्वयं अणुव्रती बने और आन्दोलन के कार्य को आगे बढ़ाने में निरन्तर सचेष्ट रहे। अनेक वर्षों तक वे दिल्ली एवं अखिल भारतीय अणुव्रत समिति के अध्यक्ष भी रहे।

मेरा सम्पर्क

दिल्ली से मेरा सम्पर्क सं० २००६ के शेषकाल में तब हुआ जब प्रथम बार आचार्यश्री तुलसी वहां पधारे। मैं उस समय उनके साथ ही था। फिर तो ऐसा क्रम बना कि उसके बाद के दस वर्षों में मुझे दिल्ली में छः चातुर्मास करने का अवसर मिला। उनमें भी पिछले चार चातुर्मास तो ऐसे थे, जिनके शेष काल भी मैंने प्रायः दिल्ली में ही व्यतीत किए। अणुव्रत आन्दोलन के लिए वह समय जन-सम्पर्क की शुद्ध नींव भरने का था, अतः बहुत उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण था। उस समय जन-साधारण से लेकर राजनेताओं तक न केवल सम्पर्क ही साधा गया, अपितु उसमें गांभीर्यापादन भी किया गया। पत्रकारों एवं साहित्यकारों के सम्पर्क को भी उच्च प्राथमिकता दी गई।

ऐसे ही अवसर पर अमनजी से प्रथम परिचय हुआ। फिर तो अणुव्रत आन्दोलन के कार्यक्षेत्र में एक-दूसरे से मिलने और विचार-विमर्श करने के प्रसंग बार बार आते रहे। परिणामतः वह परिचय सामीप्य में बदल गया और व्यक्तिगत संबंधों में गहराई आती गई। उस गहराई में एक कारण हम दोनों का कविता-प्रेम भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। अमनजी उर्दू में शायरी किया करते थे तो मैं हिन्दी कविताएं लिखा करता था। अनेक बार हमने एक-दूसरे की कविताओं को सुना-समझा था।

कटोरियां बदलीं

एक बार मैंने उनके निवास स्थान पर रात्रि निवास किया। वहां स्थानीय अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से सम्पर्क करने का अवसर तो मिला ही, स्वयं अमनजी के साथ भी अणुव्रत अन्दोलन की तत्कालीन आवश्यकताओं पर खुलकर विचार करने का अवसर मिला। उसी सिलसिले में मानवीय वृत्तियों की विचित्रता के विषय में उन्होंने मुझे एक घटना सुनाई, वह आज भी मुझे याद है।

उन्होंने कहा—"अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध चलाए जा रहे आन्दोलन के सिलसिले में हम लोग कांग्रेस की ओर से जेल गए। वहां उस समय भोजन की व्यवस्था बहुत ही बुरी थी। रद्दी आटे से बनी अधपकी चपातियां और पानी जैसा साग दिया जाता था। साग की कटोरी में आलू का तो कोई एकाध टुकड़ा ही हुआ करता था। उससे अधिक टुकड़े किसी कटोरी में हों तो उसे किसी भूल का परिणाम ही समझना चाहिए। एक दिन सभी लोग भोजन करने के लिए बैठे। वहां एक व्यक्ति की कटोरी में आलू का केवल एक टुकड़ा ही था जबकि उसके पास वाले व्यक्ति की कटोरी में तीन टुकड़े थे। व्यक्ति भोजन प्रारम्भ करने से पूर्व पानी लेने गया तब तक प्रथम व्यक्ति को अवसर मिल गया। उसने चुपके से अपनी थाली की कटोरी उसकी थाली में रख दी और उस थाली की अपनी थाली में रख ली।"

घटना का उपसंहार करते हुए अमनजी ने कहा—"मुनि जी! यह है हमारी वृत्तियों की दशा। जिसकी वृत्ति बुरी होती है, वह छोटी-बड़ी वस्तु नहीं देखता। उस समय उतना ही अवसर था, अतः उस पर हाथ साफ किया। वैसे व्यक्ति सत्ता पर आने के पश्चात् लाखों पर हाथ मारते हैं।"

तकुओं का उपयोग

अहिंसा विषयक वार्तालाप के एक प्रसंग में अमनजी ने मुझे एक घटना सुनाई। उन्होंने कहा—"उस वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन बंगाल में था। सदस्यों में किसी बात को लेकर सिद्धान्त-भेद उभर आया। तत्काल परस्पर गरमागरम बहस होने लगी। कुछ ही मिनटों में वह बहस तकरार में बदल गई। तब खींचातानी प्रारम्भ हो गई। अगले ही क्षण उस स्थिति ने मारपीट का रूप ले लिया। बहुत से व्यक्तियों के पास सूत कातने के लिए लाये हुए तकुए और चरखे थे। उत्तेजना के क्षणों में अहिंसा के प्रतीक उन तकुओं और चरखों का उपयोग एक-दूसरे को चोट पहुंचाने में हुआ। अमनजी का निष्कर्ष था कि साधन-शुद्धि पर बल देना बहुत उत्तम है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु दारमदार तो आखिर मनुष्य की अपनी वृत्तियों पर ही रहता है। वे बुरी हों तो शुद्ध से शुद्ध साधन को भी अशुद्धता के कीचड़ में सनते देर नहीं लगती। मैं उनके उस निष्कर्ष से सहमत था।

समय पर आगमन

अमनजी एक भद्र एवं सरल परिणामी व्यक्ति थे। अपनी त्रुटि ध्यान में आते ही वे उसमें सुधार करने को उद्यत रहते थे। अहंकारी व्यक्तियों की तरह अपनी गलत बात को भी आग्रहवश सिद्ध करते जाने का स्वभाव उनमें नहीं था। बात उस समय की है, जब दिल्ली एक राज्य था। अमनजी उस समय वहां वित्त मंत्री थे। एक दिन अणुव्रत समिति की ओर से मध्याह्न में दो बजे पुरानी दिल्ली के व्यापारियों का एक सम्मेलन रखा गया। अमनजी भी उसमें भाग लेने वाले थे। यथासमय काफी व्यापारी वहां पहुंच गए, पर अमनजी नहीं पहुंचे। खाली बैठे-बैठे आगुंतकों को समय का अपव्यय अखरे नहीं, इसलिए मैंने उनसे बातचीत प्रारम्भ कर दी। उसी सिलसिले में पहले-पहल मैंने उन्हें जैन संतों के आचार-व्यवहार की अवगति दी और फिर संतों द्वारा निर्मित कलात्मक वस्तुएं दिखलाई।

मेरे सामने ही दीवार घड़ी लगी हुई थी अतः समय का मुझे पता तो था परन्तु उपचारवशात् मैंने पूछ लिया कि समय क्या हुआ है? एक भाई ने कहा—ढाई बजे हैं। मुझसे काफी अच्छे परिचित एक अन्य व्यवसायी मेरे पार्श्व में ही बैठे थे। वे जरा मुस्कराए और व्यंग्य का तीक्ष्ण प्रहार करते हुए बोले—नहीं महाराज! ये भाई आपको गलत बतला रहे हैं। अभी दो नहीं बजे हैं। अमनजी के आगमन से पूर्व वे बजने वाले भी नहीं हैं। वहां बैठे सभी व्यक्ति ठहाका मारकर हंस पड़े। हंसी तो मुझे भी आई, पर वह समय उल्लंघन की लज्जा के नीचे दबकर रह गई। मैंने तत्काल कार्यक्रम प्रारम्भ करने को कह दिया। मंगलाचरण ही हुआ था कि अमनजी भी पहुंच गए।

एक वक्ता ने अपने भाषण में उक्त व्यंग्य का उल्लेख कर दिया। अमनजी ने तब अपने भाषण में बड़ी भाव-विह्वल भाषा में जनता से क्षमा-याचना की। कार्यक्रम के पश्चात् वे मेरे पास आए और अपने विलम्ब के लिए अनुताप करते हुए क्षमा मांगने लगे। मैंने देखा कि उसके पश्चात् वे प्रायः प्रत्येक कार्यक्रम में यथासमय पहुंच जाते थे।

गये तब, आये तब

अमनजी उस समय दिल्ली अणुव्रत समिति के अध्यक्ष थे। आचार्यश्री के सान्निध्य में होने वाले अणुव्रत अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए विचार-विमर्श हेतु समिति की मीटिंग बुलाई गई। अनेक व्यक्ति जाने को उद्यत थे। उन सबका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार था कि अमनजी को साथ चलना चाहिए, परन्तु वे तैयार नहीं हो रहे थे। लोगों ने मुझे कहा कि आप थोड़ा-सा प्रेरित कर दें तो वे तैयार हो जाएंगे। मीटिंग से उठकर जब वे मेरे पास आए तो मैंने पूछ लिया—"कौन-कौन जा रहे हैं?" उन्होंने अन्यों के तो नाम बतलाए पर अपना नाम नहीं लिया। मैंने कहा—"आप तो यहां की समिति के अध्यक्ष हैं। आपके नेतृत्व में अधिवेशन में भाग लेना लोगों को अधिक प्रेरक बनता हो तो आपको सोचना ही चाहिए।"

अमनजी ने कहा—"प्रत्येक अधिवेशन में भाग लेने की मेरी स्वयं की इच्छा होती है, परन्तु मैं इन दिनों कुछ निराश हो गया हूं, अतः इस बार माफी चाहूंगा।"

मैंने साश्चर्य उनकी ओर देखा तथा पूछा—"आप यहां के कार्यकर्ताओं से निराश हो गए हैं या अणुव्रत आन्दोलन से?"

वे बोले—"नहीं-नहीं, यहां के कार्यकर्ताओं तथा आन्दोलन से मुझे कोई निराशा नहीं है। मेरी निराशा का कारण तो समाज की स्थितियां हैं।"

मैंने कहा—"तब तो आपका अधिवेशन में सम्मिलित होना अत्यन्त आवश्यक है। समाज की स्थितियों के सुधार के लिए ही तो अणुव्रत आन्दोलन का प्रयास है। आचार्यश्री के पास जाने पर अवश्य ही आप आशा से भर उठेंगे।" मेरे उस कथन से उन्होंने अधिवेशन में सम्मिलित होने का निर्णय कर लिया।

अधिवेशन से लौटकर जब वे दिल्ली आए तो आशा से भरे हुए थे। मैंने जब पूछा कि आपकी निराशा के क्या हालचाल हैं? तो वे हंस पड़े। उन्होंने मुझे बतलाया—"अभी कुछ दिन पूर्व दिल्ली नगर निगम के चुनाव थे। मेरी पार्टी वालों ने मेरे ही मोहल्ले में वोट खरीदे। यह कार्य मेरे से छिपाकर किया गया। मुझे ऐसी प्रच्छन्न अनैतिकताओं से अत्यन्त ग्लानि है। मैंने उस दिन आपसे जो निराशा की बात कही थी उसके मूल में समाज के नेताओं की यही अनैतिक स्थिति रही थी। आपके कथन को टालना नहीं चाहता था, अतः अधिवेशन में मैं गया तो सही परन्तु उक्त निराशा की भावना से घिरा हुआ ही गया था।" अमनजी ने बतलाया कि वार्तालाप के सिलसिले में आचार्यश्री के सम्मुख भी उन्होंने अपनी मानसिक दुविधा रखी। उन्होंने आचार्यश्री से कहा—"जब देश में इस प्रकार की अनैतिकता व्याप्त हो, तब कुछ एक व्यक्तियों का अणुव्रती बनना कोई प्रभावशाली नहीं हो सकता। मुझे अपनी प्रभावहीनता पर सर्वाधिक दुःख है कि मेरी पार्टी वालों पर भी मेरा कोई प्रभाव नहीं है। अधिक व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली भ्रष्टाचारिता के साथ जो सम्मिलित होना नहीं चाहता, उसे समाज के अन्य व्यक्तियों से अलग-थलग रहना पड़ता है। उसका जीवन जाति बहिष्कृत जैसा बन जाता है। मेरे साथी अब यह जान गए कि मैं उनके अनैतिक कार्यों मे सहयोग नहीं दूंगा तो वे उन विषयों में मुझसे विमर्श किए बिना ही अपना निर्णय कर लेते हैं। अब आप ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बतलाइए कि ऐसी स्थिति में मेरे जैसे प्रभावहीन व्यक्ति को अणुव्रत में रहना चाहिए या नहीं ?

अमनजी ने कहा—"मेरी बात सुनकर आचार्यश्री मुस्कराए। उन्होंने मेरी ओर देखते हुए कहा—आप स्थिति के इस पहलू को भी देखें कि वे अनेक व्यक्ति मिलकर भी एक व्यक्ति की सचाई का सामना नहीं कर सके। तभी तो उन्हें छिपकर कार्य करना पड़ा। बस, आचार्यश्री के इस कथन ने ही मेरी सारी निराशाओं को धो डाला। मैं निराशाओं से घिरा हुआ गया था, परन्तु आशाओं से भरा हुआ वापस आया हूं।"

अमनजी के उस समय के उत्साह को देखकर मैं गद्‌गद हो गया। वह कृत्रिम नहीं, एक सहज और उल्लास भरा उत्साह था। उसी के आधार पर वे आजीवन अणुव्रतों के लिए अपने समय और शक्ति का महत्त्वपूर्ण सहयोग देते थे।

लगभग बारह वर्ष पूर्व सन् १९८० के ग्रीष्मकाल में ग्वालियर चातुर्मास के लिए जाते समय मैं कुछ दिनों के लिए दिल्ली में रुका था। अमनजी को जब मेरे आगमन का पता चला तो काफी वृद्ध और अशक्त होने पर भी वे अणुव्रत भवन में रखे कार्यक्रम में सम्मिलित हुए। उसके बाद भी लगभग घंटा भर बातचीत के लिए वहां रुके। वृद्ध जन के उस सहज सौहार्द ने मुझे अंदर तक भिगो दिया। यही मेरा उनसे अंतिम मिलन था। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि बुद्धमल

जन्म : वि सं० १९७७, आषाढ़ कृष्णा तृतीया, लीखवा

निवास-स्थान : शादुलपुर (राजस्थान)

दीक्षा : वि० सं० १९८८, कार्तिक शुक्ला द्वितीया, बीदासर

अग्रगण्य : वि० सं० २०००, आषाढ़, भीनासर (राजस्थान)

साहित्य-परामर्शक : वि० सं० २०१८, फाल्गुन कृष्णा दशमी, गंगाशहर (राजस्थान)

निकाय-प्रमुख : वि० सं० २०३८, माघ शुक्ला सप्तमी, गंगाशहर (राजस्थान)

संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता, संस्कृत के प्रतिभासंपन्न आशुकवि

प्रमुख कृतियां : मंथन, आवर्त, उणियारो (राजस्थानी काव्य), जागण रो हेलो (राजस्थानी गीत), उस पार, मन के दीप, आंखों ने कहा, श्रमण संस्कृति के अंचल में, तेरापंथ का इतिहास, अणुव्रत विचार दर्शन, मानवता का मार्ग, नींव के पत्थर, आचार्यश्री कालूगणी : एक परिचय, आचार्य तुलसी : जीवन दर्शन, तेरापंथ, प्रकाश के पदचिह्न, तेरापंथ के मंतव्य और वर्तमान लोक चिन्तन, भारतीय भाषाओं को जैन साहित्यकारों की देन आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org